भ्रष्टाचार के प्रति भद्रलोक का भ्रामक नजरिया

देश-विदेश

पुस्तिका : सात

देश-विदेश पुस्तिका-7
जनवरी - 2014

जलवायु परिवर्तन और पर्यावरण संकट :
कौन है इसका जिम्मेदार?

सम्पादक
उमा रमण

सहयोग राशि
15 रुपये

सम्पर्क सूत्र
देश विदेश
502/10, एस-1, साँई कॉम्पलेक्स
ब्लॉक-डी, गली नं. - 1
अशोक नगर, शाहदरा,
दिल्ली - 110093

मुद्रक
प्रोग्रेसिव प्रिंटर्स
ए-21, झिलमिल इंडस्ट्रियल एरिया
जी.टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली-95

उमा रमण द्वारा एस-1 साँई कॉम्पलेक्स, 502/10 अशोक नगर, शाहदरा, दिल्ली - 110093 से प्रकाशित

सम्पादकीय टिप्पणी...

इस पुस्तिका में प्रस्तुत दोनों लेख अन्ना हजारे के नेतृत्व में चलाए गये भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन से सम्बन्धित हैं और पहले देश-विदेश के अंक 12 (दिसम्बर 2011) में प्रकाशित हुए थे। इन दो वर्षों में, यदि प्रचलित कहावत में थोड़ा फेरबदल करके कहा जाय, तो यमुना और हिण्डन में काफी मल-मूत्र और गन्दगी प्रवाहित हो चुकी है। भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन के असंगत नेतृत्व में फूट-बिखराव, आपसी विवाद और आरोप-प्रत्यारोप, नेतृत्वकारी लोगों का विभिन्न पार्टियों, विशेषकर भाजपा में प्रवेश, अरविन्द केजरीवाल के नेतृत्व में आम आदमी पार्टी का गठन, दिल्ली विधानसभा चुनाव में उसकी भागीदारी, विधानसभा की 70 सीटों में से 28 सीटों पर 'आप' की जीत, सरकार बनाने को लेकर उहापोह की स्थिति, काँग्रेस के 8 विधायकों के समर्थन से अरविन्द केजरीवाल के मुख्यमंत्रित्व में 'आप' सरकार का गठन, सरकार द्वारा कुछ लोक लुभावन वादों पर अमल, विभिन्न पार्टियों के 'ईमानदार' लोगों और मुक्तमना 'वाम-जनवादी' बुद्धिजीवियों का 'आप' में प्रवेश, इत्यादि, इत्यादि। इन घटनाओं को देखते हुए इन लेखों में भ्रष्टाचार की अवधारणा और जनान्दोलन की सफलता-असफलता की पूर्वशर्तों के बारे में जो विचार व्यक्त किये गये हैं, वे आज पहले से भी अधिक प्रासंगिक हैं। इन लेखों में तात्कालिकता के अंश भी हैं, लेकिन इनका मुख्य जोर इन प्रश्नों पर जनमानस में व्याप्त वैचारिक विभ्रम और जानबूझ कर फैला दी गयी भ्रान्तियों को दूर करना और एक स्पष्ट वैचारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने पर है।

आशा है, पाठक इन पर अपनी बेबाक राय, प्रतिक्रिया और सुझावों से हमें अवगत कराएँगे।

विषय सूची

भ्रष्टाचार के प्रति भद्रलोक का भ्रामक नजरिया 5

टीम अन्ना का जन लोकपाल
के लिए आन्दोलन : एक विश्लेषण 14

भ्रष्टाचार के प्रति भद्रलोक का भ्रामक नजरिया

वर्तमान समाज में प्रचलित और स्थापित धारणा यही है कि अपनी पद-प्रतिष्ठा और जिम्मेदारी का दुरुपयोग करके अपने और अपने खास लोगों के स्वार्थों की पूर्ति करना तथा पूँजीवादी नैतिकता के मानदंडों और कानूनों का उल्लंघन करके नाजायज धन-सम्पत्ति जमा करना भ्रष्टाचार है। एक दूसरे प्रकार का भ्रष्टाचार भी है जिस पर यह पूरी समाज व्यवस्था टिकी हुई है, लेकिन वह हराम या गैर-कानूनी नहीं है- पूँजीवादी शोषण और लूट-खसोट। उदाहरण के लिए श्रम का निर्मम शोषण, प्राकृतिक संसाधनों का बेहिसाब दोहन, निजीकरण के नाम पर सार्वजनिक सम्पत्ति का मालिकाना निजी पूँजीपतियों को सौंपना, पूँजीपतियों को टैक्स में छूट और हर तरीके से उनकी तिजोरी भरना, जनता पर टैक्स लादकर मंत्रियों, सांसदों, विधायकों, नौकरशाहों और बुद्धिजीवियों के लिए मोटी तनख्वाहों, राजसी ठाट-बाट और विशेषाधिकारों का इंतजाम करना। पूँजीवादी नैतिकता के अनुसार ये भ्रष्टाचार की श्रेणी में नहीं आते, लेकिन बहुसंख्य मेहनतकश वर्गों और मानवता की दृष्टि से यह सब निकृष्ट और भ्रष्ट आचरण है। भ्रष्टाचार के खिलाफ धर्मयुद्ध छेड़ने वाले योद्धा इस दूसरे तरह के भ्रष्टाचार की कहीं कोई चर्चा नहीं करते, उनकी निगाह में ये सभी काली करतूतें नैतिक और जायज हैं, केवल स्थापित कानूनों का उल्लंघन करके काला धन बटोरना ही भ्रष्टाचार है जबकि भ्रष्टाचार का ये कानूनी प्रकार इस समूचे लूटतंत्र के आगे कुछ भी नहीं। लेकिन इसकी चर्चा बाद में। पहले प्रचलित अर्थों में भ्रष्टाचार को ही लें, जो लोगों को प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है, जिसे लेकर लोगों के मन में आक्रोश है और जिसकी रोक-थाम के लिए आज विश्व बैंक, सरकार और भद्रलोक-एनजीओ अपने-अपने तरीके से जोर लगा रहे हैं।

भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन के भद्रलोक-एनजीओ नेता भ्रष्टाचार के प्रति सतही और भ्रामक नजरिया अपनाते हैं। कैसे?

पहला- वे रोग के लक्षण को ही रोग बताते हैं, महँगाई, बेरोजगारी, किसानों की तबाही और लाखों की संख्या में आत्महत्याएँ, मजदूरों का निर्मम शोषण, अमीरी-गरीबी के बीच बढ़ती खाई, बहुसंख्य जनता की कंगाली, बदहाली और प्रवंचना, सांस्कृतिक पतनशीलता और अन्य तमाम लक्षणों की तरह भ्रष्टाचार भी वर्तमान रुग्ण पूँजीवादी व्यवस्था के लाइलाज रोग का एक लक्षण मात्र है। लेकिन भ्रष्टाचार विरोधी धर्मयोद्धा यह

भ्रम फैला रहे हैं कि भ्रष्टाचार समाज की सभी बुराइयों की जड़ है जिसे खत्म कर दिया जाय तो सारी समस्याओं का अंत हो जायेगा।

अपने रोजमर्रे की जिंदगी में आये दिन लोगों का भ्रष्टाचार से सामना होता रहता है। हर छोटे-बड़े काम के लिए उन्हें रिश्वत देनी पड़ती है। इसी का फायदा उठाकर भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम के कर्ता-धर्ताओं ने इसे देश की सारी समस्याओं की जड़ बनाकर पेश किया। कॉरपोरेट नियंत्रित मीडिया- टीवी, रेडियो और अखबारों ने अपने धुआँधार प्रचार के द्वारा आम लोगों के मन में इसे कॉमन सेंस की तरह स्थापित कर दिया है। हर कॉमन सेंस की तरह यह भी सरासर गलत है। इसके लिए एक सूत्र आजमाया जाय। हर व्यक्ति अपने एक साल का लेखा-जोखा ले कि उसने कितनी जगह कितनी रिश्वत दी। उससे उसे खुद कितना फायदा हुआ? नहीं देने से कितना नुकसान होता? पता चलेगा कि 20 रुपये रोज पर गुजर-बसर करने वाले 80 फीसदी लोगों की जिन्दगी में भ्रष्टाचार की कोई गुंजाइश ही नहीं है। यही कारण है कि इन 80 फीसदी लोगों को भद्रलोक इस लायक नहीं समझता कि वे उसके भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम में झण्डा, टोपी और टैटू के साथ शामिल हों। आम मध्यम वर्ग के लिए भी यह ढेर सारी समस्याओं में से एक है।

भ्रष्टाचार की तरह ही पूँजीवादी रोग का एक लक्षण महँगाई है जिसके चलते हर आदमी को अतिरिक्त बोझ उठाना पड़ता है, चाहे 20 रुपये पर गुजारा करने वाले हों या हजारों रुपये मासिक कमाने वाले। तुलना करें कि एक साल में किसने हमारा कितना अधिक प्रत्यक्ष दोहन किया? बेरोजगार यह सोचें कि यदि सम्मानजनक रोजगार मिल जाये तो पिछले एक साल में भ्रष्टाचारियों को दी गयी रिश्वत की तुलना में उसका कितना फायदा होता? खेती तबाह न हो तो कोई किसान आत्महत्या करने के बजाय क्या ब्याज चुकाना और घूस देना पसंद नहीं करेगा? इन बातों का मतलब भ्रष्टाचार का समर्थन करना नहीं बल्कि उनके 'कॉमन सेंस' का जवाब उन्हीं की भाषा में देना है। क्योंकि इसी पद्धति से भ्रष्टाचार विरोधी भ्रष्टाचार को सबसे बड़ी समस्या बना कर उसे लोगों के मस्तिष्क में रोप रहे हैं। भ्रष्टाचार को लक्षण की जगह रोग बताने वाले ये ध्वजधारी वास्तव में लोगों का ध्यान जनता की मूल समस्याओं- महँगाई, बेरोजगारी, किसानों की तबाही, आम जनता की बढ़ती बदहाली और कानून के संरक्षण में हो रहे देशी-विदेशी पूँजीपतियों की बेलगाम लूट से हटा रहे हैं, जिनके मूल में नवउदारवादी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था है। इसके चलते लोगों को लगता है कि जन लोकपाल बनने और लोकपाल का पद सृजन होने से उनकी सारी समस्याएँ हल हो जाएँगी। इस तरह जनता का गुस्सा कुछ समय के लिए शान्त हो जायेगा। आंदोलनकारियों का यही मकसद है।

दूसरा- भ्रष्टाचार की जड़ तक पहुँचने, उसका कारण तलाशने या उसके असली स्रोतों को निशाना बनाने और उसे निर्मूल करने के बजाय भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलनकारी केवल ऊपरी तौर पर सुधार करने और कानून के जरिये इस पर रोक लगाने की बात करते हैं। इस कानून के अधीन देशी-विदेशी पूँजीपतियों को लाने से इन्कार करते हैं और केवल

उनके निरंतर जारी भ्रष्टाचार में सहयोग करने वाले नेताओं और नौकरशाहों के खिलाफ कानून बनाने की बात करते हैं। 2जी स्पैक्ट्रम का घोटालेबाज ए. राजा तो पहले से मौजूद कानून के तहत ही जेल में है। लेकिन जिन मोबाइल कम्पनियों को उसके जरिये 1,75,000 करोड़ का मुनाफा हुआ उन देशी-विदेशी पूँजीपतियों को इस नये कानून के अधीन लाने का कहीं कोई जिक्र नहीं है। इसी तरह वे व्यस्थापोषक मीडिया और एनजीओ को भी इस कानून की पकड़ से बाहर रखने के हिमायती हैं।

अन्ना टीम यह मानकर चलती है कि भ्रष्टाचार केवल सरकारी संस्थानों में ही है। इसीलिए वे निचले स्तर तक के सरकारी कर्मचारियों को लोकपाल के दायरे में लाने की माँग करते हैं। सरकारी स्कूल, अस्पताल और सरकारी सेवाओं के भ्रष्टाचार के प्रति उनकी चिंता जायज है। लेकिन आज निजीकरण के चलते शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन, सड़क और पानी-बिजली का जिम्मा नाम मात्र ही सरकार के अधीन है। ये सारे कारोबार अब निजी पूँजीपति और एनजीओ सम्भाल रहे हैं जिन पर कोई सरकारी अंकुश नहीं है, सरकारी लोकपाल और जनलोकपाल दोनों में ही उन्हें शामिल नहीं किया गया। इसमें अचरज की कोई बात नहीं, क्योंकि दोनों ही पक्ष नवउदारवादी नीतियों के प्रबल समर्थक हैं और दोनों को पूँजीपतियों के भ्रष्टाचार से कोई शिकायत नहीं है।

1991 में नव-उदारवादी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद जितने भारी पैमाने पर भ्रष्टाचार की घटनाएँ सामने आयी हैं उसने मध्यम वर्गीय लोगों में तीव्र आक्रोश उत्पन्न किया है। अन्ना के आह्वान पर ऐसे लोग सड़कों पर उतरे। अन्ना टीम ने उस जनाक्रोश को सही दिशा देने और भ्रष्टाचार की जड़ों पर प्रहार करने के बजाय उसे सतही और बेमानी सुधारों के ठन्डे पानी में डुबो दिया क्योंकि इस भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम का अंतिम लक्ष्य केवल एक अदद कानून बनाना था। निजीकरण-उदारीकरण के नाम पर देश की सार्वजनिक सम्पदा और प्राकृतिक संसाधनों को कौड़ियों के मोल पूँजीपतियों के हवाले करने वाली नीतियों को पलटे बगैर किसी भी कानून से इस भ्रष्टतंत्र पर कोई आंच नहीं आने वाली है। इस विषय पर अन्ना टीम मौन है। भ्रष्टाचार का स्रोत देशी-विदेशी पूँजीपति हैं। पूँजीवादी-साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था और उसके असली मालिक, पक्ष-विपक्ष की पार्टियों के नेता और नौकरशाह दिन-रात उनकी सेवा में जुटे रहते हैं। अपनी अपार सम्पत्ति के दम पर पूँजीपति वर्ग अपने मनोनुकूल कानून बनवाने और उन्हें लागू करवाने के लिए नेताओं, नौकरशाहों, मीडिया, पत्रकारों, विशेषज्ञों और लॉबिंग करने वालों को खरीदते हैं। वे करोड़ों की रिश्वत देकर अरबों-खरबों की लूट करते हैं। चाहे सरकारी लोकपाल हो या अन्ना का जन लोकपाल, दोनों में से किसी ने भी इनको निशाना नहीं बनाया। शायद यही कारण है कि अन्ना के आन्दोलन को इन्हीं पूँजीपतियों का प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग और समर्थन हासिल हुआ।

विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी साम्राज्यवादी संस्थाएँ और बहुराष्ट्रीय निगम दुनिया भर में भ्रष्टाचार के बहुत बड़े स्रोत हैं। इस पर अनेक शोध, अध्ययन और

लेख प्रकाशित हो चुके हैं। तीसरी दुनिया के देशों के शासन-प्रशासन के ढाँचे को भ्रष्ट करके अपने मनोनुकूल नीतियाँ बनवाना, अपने गुप्त समझौतों और दुरभिसंधियों को लागू करवाना, अपने लिए बड़े-बड़े ठेके और परियोजनाएँ हासिल करना, हथियार के सौदे करना, अपने निर्यात को सुलभ बनाना, प्राकृतिक संसाधनों को हथियाना इनके रोजमर्रे के काम हैं। भारत में बड़े पैमाने के भ्रष्टाचार की जमीन इन्हीं विदेशी ताकतों और देशी पूँजीपतियों की मिलीभगत से तैयार हुई है। जब भ्रष्टाचार का कोई ठोस मामला किसी तरह उजागर हो जाता है तो वह सबको दिख जाता है और लोगों को गुस्सा भी आता है। लेकिन कानूनी लबादे से ढका हुआ भ्रष्टाचार का विकट दानव हमें नहीं दिखाई देता। हम उसे स्वाभाविक मानते हैं क्योंकि विकास के नये मंत्र के रूप में सब हमारे मन-मस्तिष्क में रोप दिया जाता है। अन्ना टीम इसी स्थिति का लाभ उठाते हुए केवल सतही भ्रष्टाचार को निशाना बनाती है और इसके लिए भारी समर्थन भी हासिल कर लेती है।

तीसरा- भ्रष्टाचार को लेकर हाय-तौबा मचाने वाले नैतिकता के प्रचारक, धर्मोपदेशक, अर्थशास्त्री, समाज सुधारक, पत्रकार और बुद्धिजीवी, इसके वर्गीय आधारों पर पर्दा डालते हैं और इसे लोभ-लालच की सामान्य मानवीय प्रवृत्ति और नैतिक पतन का नतीजा मानते हैं। वे हीरा चुराने वालों और खीरा चुराने वालों को एक ही तराजू पर तौलते हैं। इस तरह यह आम धारणा बन गयी है कि हमारे समाज में सभी लोग भ्रष्ट हैं। यह सरासर झूठ है।

समाज के विभिन्न वर्गों और भ्रष्टाचार के साथ उनके सम्बन्धों की जाँच करें तो इस प्रचलित धारणा से एकदम अलग ही तस्वीर सामने आती है। कुछ वर्ष पहले प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर अरुण कुमार ने भारत में भ्रष्टाचार पर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया था जिसके अनुसार उस दौरान देश में 25,00,0000 करोड़ की काले धन की सामानांतर अर्थव्यवस्था मौजूद थी। इस अपार काली कमाई के लिए जिम्मेदार कौन है? इस पर किसका कब्जा है?

हमारे देश में लगभग 30 करोड़ लोग शहरों में रहते हैं जिनमें से आधी आबादी छोटे-मोटे धंधो में लगे लोगों और मेहनतकशों की है। देश की कुल अर्थव्यवस्था में इनका हिस्सा बहुत कम है तथा भ्रष्टाचार और काले धन की अर्थव्यवस्था में इनकी भागीदारी नगण्य है। शहरी आबादी के बाकी आधा भाग का अधिकांश हिस्सा ही भ्रष्टाचार में लिप्त है जिनके शीर्ष पर पूँजीपति, उद्योगपति और उनका प्रबन्ध तंत्र, डीलर, डिस्ट्रीब्यूटर, कमीशन एजेंट, सट्टेबाज तथा निर्माण, रियल इस्टेट, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, पेंशन और सेवा क्षेत्र के विभिन्न व्यवसायों के मालिक और सरकारी अधिकारी, कर्मचारी, छोटे-मझोले पूँजीपति, व्यापारी और अन्य परजीवी शामिल हैं। ये सब आपस में मौसेरे भाई हैं। ग्रामीण आबादी का एक बहुत छोटा और नगण्य हिस्सा ही काले धन की अर्थव्यवस्था में शामिल है क्योंकि देश की अर्थव्यवस्था में ग्रामीण इलाके की भागीदारी बहुत कम, लगभग 20 प्रतिशत है। प्रोफेसर अरुण कुमार का अनुमान है कि आबादी का 3 प्रतिशत ऊपरी हिस्सा

ही काले धन की अर्थव्यवस्था में सबसे ज्यादा लिप्त है। यदि छोटे-बड़े सभी तरह के भ्रष्टाचार को ले लिया जाये तो यह दायरा 15 प्रतिशत ऊपरी तबके तक जाता है। एक अध्ययन के मुताबिक देश की आधी आय ऊपरी 20 प्रतिशत लोगों के हाथ में जाती है। यानी इतनी बड़ी आमदनी के साथ-साथ यही ऊपरी तबका 25,00,0000 लाख करोड़ के काले धन पर भी काबिज है। इसी काले धन की बदौलत इस वर्ग का इस देश की सत्ता पर भी नियंत्रण है जिसके जरिये यह धनाढ्य वर्ग कानूनी तौर पर अपने लिए मोटी तनख्वाह और सुविधाएँ (वेतन आयोग बनाकर या संसद में प्रस्ताव पास करके) जुटाने के अलावा, टैक्स में छूट, सरकारी धन का बंदरबाँट, अरबों का फायदा पहुँचाने के बदले करोड़ों की रिश्वत और हर तरह के जुगाड़ से सार्वजनिक सम्पत्ति की कानूनी-गैरकानूनी लूट में दिन रात शामिल रहता है। यही तबका वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण का सबसे बड़ा पैरोकार और नवउदारवादी लूटतंत्र का सामाजिक आधार है। इसे अपने अलावा सभी भ्रष्ट नजर आते हैं और सबसे ज्यादा भ्रष्टाचार पर प्रवचन भी यही लोग देते हैं। अन्ना के आन्दोलन में भी इसी तबके के लोग सबसे आगे थे। अपनी सुविधानुसार भ्रष्टाचार को लेकर इनके अलग-अलग बोध हैं। इनका मानना है कि इनकी परिभाषा के मुताबिक जो भ्रष्टाचार है, उसे खत्म कर दिया जाये तो यह व्यवस्था सुचारू रूप से चलने लगेगी। सरकार और सिविल सोसाइटी के बीच टकराव का कारण यही अलग-अलग बोध है। अगर देश में पहले से ही मौजूद कानूनों को कड़ाई से लागू कर दिया जाये तो शायद इस तबके के कुछ लोगों को छोड़कर बाकी सभी जेल की सलाखों के पीछे होंगे। लेकिन व्यवस्था को चलाने वाले लोग भी चूँकि इसी तबके से हैं, इसीलिए हमारे यहाँ छोटे चोरों को सजा होती है और बड़े चोरों को पुरस्कृत किया जाता है। जब तक चोरी पकड़ी नहीं जाती, तब तक हर चोर प्रतिष्ठित नागरिक होता है, चाहे कलमाड़ी हों, ए. राजा, हसन अली, रेड्डी बंधु, यदुरप्पा या अलाँ-फलाँ... सूची अंतहीन है। सत्ता के शीर्ष पर विराजमान लोगों तथा सफेदपोश और संगठित अपराधियों के बीच गहरे रिश्ते हैं। लोकपाल की जगह साक्षात ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी आ जायें तो वे भी इस व्यवस्था के रहते कुछ नहीं कर पाएँगे।

दरअसल भ्रष्टाचार इस व्यवस्था का अलिखित विधि-विधान और समान्तर कार्य-प्रणाली है। यह इस व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने में ग्रीस और मोबिल ऑयल का काम करता है। भ्रष्टाचार से एकत्रित काले धन का एक हिस्सा स्विस बैंक या लिचेंस्टीन बैंक में जमा होता है और फिर विश्व अर्थव्यवस्था में सफेद बनकर दौड़ता है। (भारत में विदेशी निवेश और कर्ज के रूप में वापस आकर प्रतिष्ठित होता है।) दूसरा भाग अपने ही देश में सफेद होकर पूँजी में बदल दिया जाता है और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का वैधानिक हिस्सा बन जाता है। इस कार्य के लिए एक पूरी कार्य प्रणाली विकसित हुई है- दान-पुण्य से लेकर खेती की आय, मनोरंजन उद्योग, भवन निर्माण उद्योग और यहाँ तक कि मनी लॉंडरिंग (काले धन की स्वैच्छिक घोषणा) कानून तक। ताजा समाचार यह है कि भारत के पूँजीपतियों ने सरकार से विदेशों में जमा कला धन आसानी से वापस लाने के लिए कानून

बनाने की अपील की है ताकि पूँजी निवेश कि समस्या हल हो। इस तरह वर्तमान दौर में भ्रष्टाचार की बेलगाम बढ़ती प्रवृत्ति दरअसल आदिम पूँजी संचय का ही एक रूप है। यह आदम-हव्वा के द्वारा वर्जित फल खाने की तरह ही पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का आदिम पाप है। पूँजी शिष्टाचार से पैदा नहीं होती, जन्म से ही वह खून और कीचड़ से लथपथ होती है।

वैश्वीकरण के इस दौर में अर्थतंत्र और राजनीति के बीच, सार्वजनिक और निजी स्वार्थों के बीच तथा व्यवसाय और जनसेवा के बीच के सारे फर्क मिटाए जा रहे हैं। इसी के साथ सत्ता की राजनीति खुद ही एक नग्न रूप ले चुकी है। एक जमाना था जब इसे ठीक नहीं माना जाता था हालाँकि तब भी सत्ता की राजनीति पूँजीवादी व्यवसाय को संरक्षण देने और बदले में अपने लिए उनसे चंदा लेने का काम करती थी जो स्वीकृत और जायज था। अक्सर यह भ्रम फैलाया जाता है कि लोकतंत्र में सरकार का काम बाजारवाद और पूँजीवादी अर्थतंत्र पर अंकुश रखना है, ताकि वे जनता का निर्मम शोषण न करें। सच्चाई यह है कि सरकार का काम पूँजीवाद की हिफाजत करना है। नेहरूवाद के दौर में इस पर समाजवाद-संरक्षणवाद का पर्दा पड़ा हुआ था जिसे अब हटा दिया गया है। अब पूँजीपति और उनके नुमाइंदों के बीच का अंतर काफी हद तक मिट गया है। यही कारण है कि पूँजीवाद द्वारा श्रम की वैधानिक लूट और शोषण, जो वास्तव में भ्रष्टाचार ही है, उसे काफी पीछे छोड़ते हुए हर कीमत पर मानव श्रम, प्राकृतिक संसाधन और सार्वजनिक सम्पत्ति की लूट-खसोट में ज्यादा तेजी आयी है। इसके साथ ही भ्रष्टाचार का नंगा नाच भी पहले से कई गुना अधिक बढ़ा है। इंदिरा गाँधी के जमाने में जो 10 लाख रुपये का नागरवाला काण्ड हुआ था, वह आज के हर्षत मेहता, हसन अली, कलमाड़ी और ए. राजा काण्ड के आगे भला क्या था? 'भद्रलोक' को पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और पूँजीवादी शोषण के बेलगाम होने से कोई शिकायत नहीं है। वे सतह पर दिखने वाले भ्रष्टाचार के इस घिनौने चेहरे से लज्जित हैं और इसे खत्म करके पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की छवि सुधारने का अपना कर्त्तव्य निभा रहे हैं। इससे आगे वे देखना नहीं चाहते।

अमरीका के कहने पर मणि शंकर अय्यर को हटा कर मुरली देवड़ा को पेट्रोलियम मंत्री बनाना, क्योंकि अमरीका, इरान-पाकिस्तान-भारत गैस पाइप लाइन के विरुद्ध था, यह कहाँ का शिष्टाचार है? पूँजीपतियों का एक समूह एक लॉबिस्ट को भरपूर पैसा देकर अपने मनमाफिक आदमी ए. राजा को संचार मंत्री बनवाता है, अतीतग्रस्तता के कारण गुटनिरपेक्षतापूर्ण बयानबाजी की जुर्रत करने वाले विदेश मंत्री नटवर सिंह को निकाल बाहर करना और वे तमाम बातें जिनका खुलासा विकिलीक्स ने किया, भला किस कोटि का आचार हैं? बिना लेन-देन के ही सही, सार्वजनिक सम्पत्तियों की कौड़ियों के मोल नीलामी और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हित में असमान व्यापार समझौते, नाभिकीय समझौते पर संसद की मोहर लगवाने के लिए खरीद-फरोख्त (जिसके बारे में सर्वोच्च न्यायालय ने पूछा है कि इतना पैसा कहाँ से आया?) यह सब

नैतिकता की किस कोटि में आते हैं? ऐसे मामलों में 'भद्रलोक' गाँधी जी के तीन बंदरों की तरह आचरण क्यों करता है?

सबसे बड़ी बात यह कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में कोई भी भ्रष्टाचार शिष्टाचार बन जाता है, जब व्यवस्था के संचालक किसी भ्रष्ट आचरण-व्यवहार या पेशे को कानूनी जामा पहना देते हैं, जैसे- वित्तमंत्री के मुख्य सलाहकार कौशिक बासु ने कुछ विशेष प्रकार की रिश्वतखोरी को वैधानिक बना देने का सुझाव दिया और शीर्षस्थ पूँजीपति नारायणमूर्ति सहित अनेक लोगों ने इसका समर्थन भी किया। लॉबिंग को परामर्श सेवा का दर्जा देने की चर्चा चल रही है, पैसा लेकर सवाल पूछने और अमरीका की तरह यहाँ भी सांसदों को लॉबी बनाने की इजाजत देने की सिफारिश कुछ साल पहले भाजपा ने की थी। काले धन को सफेद करने के लिए कानून बनाया जाना, सोने के आयात की छूट देना, सीमा शुल्क 350 प्रतिशत से घटाकर 10 प्रतिशत कर देना, श्रम कानूनों में ढील देकर मजदूरों के निर्मम शोषण को कानूनी रूप देना, उदारीकरण-निजीकरण के जरिये पूँजी को बेलगाम छूट देना, 1991 से पहले गैर कानूनी समझे जाने वाले काले धंधों (काला बाजारी, सट्टेबाजी, जमाखोरी, कर चोरी) को कानून बनाकर वैधानिक करार देना भी उसके अन्य उदाहरण हैं। विदेशों से सोना लाने वाले तश्करों पर अब फिल्में नहीं बनती। नेपाल से विदेशी उपभोक्ता वस्तुओं की तश्करी अब पुराने जमाने की बात हो गयी है। ऐसे ढेर सारे धंधे जो 1991 से पहले भ्रष्टाचार की श्रेणी में आते थे आज वे शिष्टाचार हैं। अभी ढेर सारे ऐसे भ्रष्टाचार हैं जो शिष्टाचार की श्रेणी में बदले जाने की प्रतीक्षा में है। सम्भव है कि लोकपाल के पदभार सँभालने तक भ्रष्टाचार के ढेर सारे मामले उनके दायरे से बाहर हो जायें। संसद में अस्सी से अधिक कानून पास होने की बाट जोह रहे हैं।

भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन के ध्वजवाहक लोकरंजक शैली में लोगों से कहते हैं कि 'सरकार नौकर है और हम सब उसके मालिक हैं।' वे यह नहीं बताते कि आखिर क्यों यह नौकर अपने मालिक की छाती पर मूँग दल रहा है? लोकतंत्र बहुमत की इच्छा न होकर कुलीनतंत्र क्यों है? राज्य के संचालकों के पास जितने अधिकार केंद्रित होते हैं उसके कारण उनका नौकर से मालिक बन जाना, भ्रष्टाचार रोकने के बजाय उसका स्रोत बन जाना लाजिमी है। साथ ही, यह प्रक्रिया उतनी ही तेज होती जाती है जितनी तेजी से गरीबी-अमीरी की खाई चौड़ी होती जाती है, बहुसंख्य जनता कंगाली के गर्त में धकेली जाती है, उसे राज-समाज के काम-काज में भागीदार होने के लायक नहीं समझा जाता (क्योंकि सरकारी नीतियों के चलते भद्रलोक की तुलना में राष्ट्रीय आय में उनका हिस्सा लगातार कम से कमतर होता जाता है।) और सरकार के विभिन्न अंग जितना अधिक खुद को जनता से दूर करते जाते हैं। भ्रष्टाचार की आपराधिक कार्यवाहियों के अलावा शासक वर्ग अपने विशेष अधिकारों के दम पर अपने और अपने सहयोगियों के वेतन-भत्ते और सुविधाएँ, जनता की बहुमत की औसत आय (जहाँ 77 प्रतिशत लोग 20 रुपये रोज पर गुजर करते हैं।) से कई-कई गुना अधिक बढ़ाते चले जाते हैं। आर्थिक हैसियत के

साथ-साथ उनकी सामाजिक हैसियत भी बढ़ती है और वे जनता के ऊपर सवारी गाँठने वाले नये राजा-महाराजा बनते जाते हैं। आज की पीढ़ी के लिए कल्पना करना शायद कठिन हो कि पहले अधिकांश नेता (भले ही उनके विचार पूँजीवादी हों और वे मूलतः पूँजीपतियों के ही नुमाइंदे रहे हों) आज से बहुत कम सुविधा सम्पन्न थे। बसों में आज भी 'सांसद और विधायक सीट' लिखा दिख जाता है जो बताता है कि पहले वे लोग भी बसों में सफर करते रहे होंगें। जनता की बढ़ती कंगाली की कीमत पर अपने लिए वैभव-विलास जुटाने की यह कार्रवाई खुली तानाशाही के अधीन तो होती ही है, लेकिन उन लोकतान्त्रिक देशों में भी निर्बाध रूप से होती है जहाँ राज्य के केवल एक अंग (विधायिका) का मतदान के द्वारा चुनाव करने की औपचारिकता के अलावा ऊपर से नीचे तक किसी भी 'लोकतांत्रिक' संस्था में या उसकी कार्यवाहियों में जनता की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं होती। राज्य के प्रमुख कार्यकारी अंग नौकरशाही और न्यायतंत्र का चुनाव लोकतांत्रिक तरीके से नहीं होता, बल्कि इन विशेषाधिकार प्राप्त और सुविधा सम्पन्न लोगों को जनता पर ऊपर से थोप दिया जाता है। निगम नियंत्रित मीडिया भी जिसे लोकतंत्र का पहरेदार कहा जाता है, बाजार और मुनाफे से प्रेरित है और मुनाफाखोरी का परम हितैषी है। पिछले दिनों मीडिया-नेताओं-पूँजीपतियों की दुरभिसंधियों के एक से बढ़कर एक मामले सामने आये। कुल मिलाकर इनमें से कोई भी संस्था जनता के प्रति जवाबदेह नहीं है। इन सबका हित जनता के विपरीत है। इनको जनता का नौकर बताना जनभावनाओं को सहलाना और लोगों को भरमाना है। भ्रष्टाचार की जननी, इस पूरी व्यवस्था की असलियत बताने और पर्दाफाश करने के बजाय उसी पर निर्भर रहते हुए भ्रष्टाचार मिटाने की बात करना, उसे और अधिक मजबूत बनाने के लिए कठोर कानून की हिमायत करना और उसके प्रति अन्धश्रद्धा को बढ़ावा देना दरअसल भ्रष्टाचार को चिरस्थायी बनाना है। भ्रष्टाचार की जड़ पर प्रहार करने के बजाय उस पर अंकुश लगाने के लिए प्रशासनिक और कानूनी सुधारों की माँग करना जनता में व्याप्त व्यवस्था विरोधी असंतोष और आक्रोश को शान्त करना और उसके मन में व्यवस्था के प्रति विश्वास पैदा करने का प्रयास मात्र है। जब तक राज्य के सभी अंगों का जनता से अलगाव दूर नहीं होता, राज्य चलाने के कार्यों में जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी सुनिश्चित नहीं होती, राज्य के सभी अंग जनता के प्रति पूरी तरह से जवाबदेह नहीं होते, चुने जाने, चुनने और वापस बुलाने का अधिकार सही मायने में बहुमत के हाथों में नहीं आता, तब तक 'नौकर के मालिक बन बैठने' और उसे भ्रष्ट होने से दुनिया की कोई ताकत रोक नहीं सकती। यह सतही सुधारों या कानूनी फेर-बदल से नहीं होगा। लूट पर टिकी पूँजीवादी अर्थव्यस्था के रहते इनमें से कुछ भी सम्भव नहीं है।

टीम अन्ना का जन लोकपाल के लिए आन्दोलन : एक विश्लेषण

टीम अन्ना के नेतृत्व में भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने के लिए एक सशक्त लोकपाल पद का सृजन करने और जन लोकपाल कानून बनाने को लेकर चल रहा आंदोलन 28 अगस्त की सुबह 10 बजे अन्ना हजारे द्वारा 'आमरण अनशन' तोड़ने के साथ समाप्त हो गया। आंदोलन के नेतृत्व ने यह घोषणा की थी कि प्रधानमंत्री और न्यायपालिका को लोकपाल के दायरे में लाने सहित अपनी किसी भी माँग से वे पीछे नहीं हटेंगे और जन लोकपाल बिल संसद में पारित होने तक अन्ना का अनशन जारी रहेगा। इसके लिए सरकार को 1 सितम्बर तक का समय दिया गया था। लेकिन सुलह-समझौते और नाटकीय घटनाक्रम के बाद आखिरकार कम महत्त्व वाली तीन माँगों पर सहमति को आधार बनाकर एक भव्य आयोजन के साथ अनशन समाप्त हो गया।

अपने जन लोकपाल बिल के समर्थन में अन्ना हजारे ने 16 अगस्त से दिल्ली में आमरण अनशन करने की घोषणा की थी। सरकार ने इसकी इजाजत नहीं दी और 16 अगस्त की सुबह अनशन शुरू करने से पहले ही अन्ना हजारे और उनके समर्थकों को गिरफ्तार कर लिया। इस घटना ने आग में घी का काम किया। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का गला घोटने के इस कुकृत्य ने सरकार के प्रति लोगों में व्याप्त आक्रोश को और अधिक तीव्र कर दिया। टीवी चैनलों ने इस पूरे प्रकरण का सीधा प्रसारण किया। छोटी से छोटी घटना को लगातार दिखाने और आन्दोलन का बढ़-चढ़कर प्रचार-प्रसार करने से शहरी मध्यम वर्ग प्रभावित हुआ। लोग उद्वेलित होकर खुद-ब-खुद सड़कों पर उतरने लगे।

इस घटना में जल्दी ही एक नाटकीय मोड़ आया जब कुछ ही घण्टों के भीतर अन्ना टीम और उनके समर्थकों को सरकार ने रिहा कर दिया। लेकिन तिहाड़ जेल से बाहर आने के बजाय अन्ना ने जेल के अंदर ही अनशन शुरू कर दिया। 16 अगस्त की रात और 17 अगस्त को दिनभर दिल्ली पुलिस के अधिकारियों के साथ अन्ना टीम की समझौता वार्ता चलती रही। आखिरकार सरकार ने 21 दिन के लिए रामलीला मैदान में अनशन और प्रदर्शन की इजाजत भी दे दी। दिल्ली नगर निगम ने दिन-रात एक करके रामलीला मैदान की सफाई और अस्थायी शौचालय की व्यवस्था की और वहाँ सुरक्षा का भी विशेष

इंतजाम किया। (याद रहे कि इसी रामलीला मैदान में अपने खर्चे पर भ्रष्टाचार के खिलाफ प्रदर्शन कर रहे स्वामी रामदेव और उनके समर्थकों पर पुलिस ने आधी रात को अचानक हमला किया था।) बाद की हर एक घटना से अधिकांश परिचित हैं क्योंकि अन्ना की गिरफ्तारी के बाद से ही सारे के सारे समाचार चैनल पूरे देश की बाकी खबरों को किनारे लगते हुए अन्ना आन्दोलन की हर छोटी-बड़ी घटना का 24x7 घण्टे सीधा प्रसारण करते रहे। इस आन्दोलन को 'आजादी की दूसरी लड़ाई', 'व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई', और ऐसे ही प्रचंड और पाखंडपूर्ण उद्घोष करने के लिए टीवी चैंनलों और अखबारों में होड़ लग गयी।

रामलीला मैदान के मंच पर नामी-गिरामी लोगों, फिल्मी सितारों, खिलाड़ियों, गायकों, कवियों, धर्मगुरुओं और समाज सेवियों का जमावड़ा तथा उत्तेजनापरक, अतिशयोक्तिपूर्ण और लोकलुभावन भाषण का क्रम अविरल जारी था। उधर सरकार और अन्ना टीम के बीच समझौता वार्ता और कई स्तर पर मंत्रणाएँ चलती रहीं। कई मध्यस्थ आये और गए जिनमें धर्मगुरु, पार्टियों के नेता, एनजीओ मठाधीश और यहाँ तक कि आदर्श घोटाले के आरोपी विलास राव देशमुख जैसे लोग प्रमुख भूमिका में रहे। और जैसा कि पहले ही तय था कि आन्दोलन का पटाक्षेप भ्रष्टाचार विरोधी कानून और एक पद सृजन के लिए आपसी समझौते में होगा, अंततः हुआ भी वही। इस बीच आन्दोलन के नेतृत्व की संरचना और उसके समर्थकों की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि, भ्रष्टाचार के प्रति नेतृत्वकारी लोगों का दृष्टिकोण, आन्दोलन का तौर-तरीका और यहाँ तक कि उनके आर्थिक स्रोत, राजनीतिक पार्टियों के साथ उनके सम्बन्ध और प्रतिक्रियावादी ताकतों के साथ संश्रय को लेकर भी बहुत सारे प्रश्न उठे। लेकिन जनता के एक खास तबके की स्वतःस्फूर्त पहलकदमी देखकर कई संगठन और व्यक्ति इतने अभिभूत और भाव विह्वल हो गए कि उन्होंने उपरोक्त सवालों को जनता से कटे निष्क्रिय बुद्धिजीवियों का प्रलाप कहकर खारिज कर दिया। कॉरपोरेट मीडिया के अहर्निश प्रचार-प्रसार से जो बवंडर उठा, उसने कई विवेकशील, विचारवान और जनपक्षधर बुद्धिजीवियों, संगठनों को भी असमंजस में डाल दिया। अब, जबकि यह तूफान थम गया है और अन्ना आन्दोलन 'आधी जीत' की अपनी चरम परिणति तक पहुँच गया है, इस पूरी परिघटना पर विचार करना जरूरी है ताकि भविष्य के लिए जरूरी सबक और कार्यभार निकाले जा सकें।

अन्ना टीम की मुहिम यदि केवल एक कानून बनवाने और एक लोकपाल पद के सृजन तक ही सीमित होती तो इसे गंभीरता से लेने की जरुरत नहीं थी। पूँजीवादी लोकतंत्रा में ऐसे दबाव समूह और पैरोकार (लॉबिस्ट) होते हैं जो किसी खास मामले में सरकार पर दबाव बनाते रहते हैं। उनके उद्देश्य बहुत सीमित होते हैं। लेकिन रामलीला मैदान के मंच से जिस तरह 'व्यवस्था परिवर्तन', 'सम्पूर्ण क्रांति', 'लोकतंत्र की पुनर्बहाली' और 'दूसरी आजादी' का शब्द-जाल फैलाया गया, उसने कई सारे लोगों के मन में फर्जी उम्मीद जगायी और भ्रम फैलाया है। लोग इस व्यवस्था से त्रस्त हैं और अपनी रोज-ब-रोज

की समस्याओं से मुक्ति चाहते हैं। अपनी इन्हीं आकांक्षाओं और भावनाओं के साथ लोग अन्ना की ओर आकर्षित हुए और अब अन्ना आन्दोलन को महिमामंडित करके उसे जनांदोलनों के एक आदर्श नमूने के रूप में स्थापित करने का प्रयास चल रहा है। ऐसी स्थिति में यह जरूरी है कि इस पूरे प्रकरण का तथ्यपरक विश्लेषण किया जाये और देखा जाये कि यह समूह अपने बड़े-बड़े दावों को पूरा करने लायक है भी या नहीं। इसके लिए हम मुख्यतः सात मानदण्डों पर अन्ना टीम और उसके लोकपाल आन्दोलन को जाँचने की कोशिश करेंगे।

1- विचारधारा और राजनीति **2**- उद्देश्य, कार्यक्रम और माँग **3**- सांगठनिक उसूल और कार्य प्रणाली **4**- नेतृत्व की संरचना **5**- समर्थक और जनाधार **6**- मीडिया की भूमिका और **7**- आर्थिक स्रोत।

शब्दाडम्बरों से नहीं बल्कि इन्हीं मानदण्डों से हम किसी भी संगठन या आन्दोलन को परख सकते हैं कि वह वास्तव में किन वर्गों या तबकों की नुमाइंदगी करता है।

विचारधारा और राजनीति

अन्ना टीम की कोई सुसंगत, सुनिश्चित और समान विचारधारा नहीं है। इसमें परम्परावादी और आधुनिकतावादी, धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष, तरह-तरह के विचारों वाले लोग शामिल हैं। एक बात सबमें साझा है कि इनमें से कोई भी बुनियादी बदलाव (रेडिकल चेंज) का समर्थक नहीं है। अधिक से अधिक इन्हें सुधारवादी माना जा सकता है। इसमें परस्पर विरोधी आस्थाओं वाले धार्मिक समूह हैं, सीमित उद्देश्य के लिए काम करने वाले गैर-सरकारी संगठन (एनजीओ) हैं और कुछ महत्त्वाकांक्षी लोग हैं जिनकी कोई सुसंगत सोच नहीं है। मुस्लिम समाज के प्रति विष-वमन करने वाले वरुण गाँधी और सुब्रमण्यम स्वामी जैसे लोगों से इस टीम को कोई गुरेज नहीं है। आरक्षण विरोधी 'यूथ फॉर इक्वेलिटी' से भी इन्हें कोई परहेज नहीं है। खुद अन्ना हजारे गुजरात नरसंहार के आरोपी नरेन्द्र मोदी और गैर-मराठी 'बाहरी लोगों' के विरुद्ध नफरत फैलाने वाले राज ठाकरे के प्रसंशक हैं। वे 'नोट के बदले वोट' के आरोपियों को फाँसी देने की माँग करते हैं, लेकिन यह साजिश किसने और क्यों की, इस पर वह मौन रहते हैं ।

अन्ना हजारे ने अपने गाँव रालेगण सिद्धि में जो आदर्श गाँव का मॉडल बनाया है, वह प्रतिगामी विचारों पर आधारित है। वहाँ जातिगत पेशे में लगे लोगों को अपना-अपना काम निष्ठापूर्वक करना जरूरी है। उनका मानना है कि हर आदर्श गाँव में एक लोहार, एक सुनार, एक कुम्हार और एक चमार परिवार का होना जरूरी है, ताकि गाँव आत्मनिर्भर बने। वहाँ पंचायत और कॉपरेटिव का चुनाव नहीं होता। दारू पीने और अन्य सामाजिक बुराइयाँ करने वालों की सार्वजनिक रूप से पिटाई की जाती है। जहिर है कि इन सब के पीछे अलोकतांत्रिक, वर्णाश्रम आधारित, ब्राह्मणवादी, सामंती सोच है। जन लोकपाल

आन्दोलन की व्यावहारिक कार्यवाहियों के दौरान भी विभिन्न रूपों में इसका इजहार हुआ।

नवउदारवादी आर्थिक 'सुधार' हमारे देश का सबसे बुनियादी मसला है। इसने भारतीय समाज में पहले से मौजूद समस्याओं को तीखा किया है और नयी-नयी समस्याओं को जन्म दिया है (विराट और बेलगाम भ्रष्टाचार भी इनमें से एक है)। उदारीकरण-निजीकरण की इन नीतियों के परिणामस्वरूप लाखों मजदूरों-किसानों ने आत्महत्या की है और अधिकांश जनता की जिंदगी नरक से भी बदतर हो गयी है। लेकिन अन्ना टीम का इन नीतियों से कोई विरोध नहीं है।

कोई भी विचार या नीति यदि बहुसंख्य मेहनतकश जनता के हित में नहीं है, उनके जीवन में खुशहाली लाने वाली नहीं है तो वह 'व्यवस्था परिवर्तन' का वाहक नहीं हो सकती। अन्ना टीम मेहनतकश जनता के प्रति पक्षधर और प्रतिबद्ध नहीं है। जिन राजनीतिक पार्टियों ने जनविरोधी, नवउदारवादी नीतियों को बढ़-चढ़ कर लागू किया, उनके सहयोग और समर्थन से ही वे जन लोकपाल कि मुहिम को आगे बढ़ा रहे हैं। अनशन की समाप्ति और 'आधी जीत' के लिए उन्होंने उन सबका आभार भी व्यक्त किया। विचारों की इस पंचमेल खिचड़ी के भरोसे सरकारी सहयोग से कोई कानून तो बनवाया जा सकता है, लेकिन क्या इसके दम पर 'व्यवस्था परिवर्तन' और 'आजादी की दूसरी लड़ाई' लड़ना सम्भव है?

सांगठनिक उसूल और कार्य-प्रणाली

अन्ना टीम के जनलोकपाल आन्दोलन का संचालन कई ढीले-ढाले संगठनों और व्यक्तियों के तदर्थ गठबंधन द्वारा किया गया जिसमें शुरू से आखिर तक मतभेद और कलह मौजूद रहे हैं। इसके नेतृत्व का करिश्माई और मसीहाई अंदाज ही इसकी सामर्थ्य और सीमा थी, जिसके केंद्र में अन्ना हजारे थे। इसमें कर्ता अन्ना और उनकी टीम थी, आन्दोलन में शामिल भीड़ का काम उनकी हौसला अफजाई करना, उनकी ताकत बढ़ाना था ताकि सरकार उनके साथ समझौता करने पर राजी हो जाये। मध्यम वर्ग को हमेशा ही किसी महानायक या मसीहा का इन्तजार रहता है जो अपने चमत्कारी प्रभाव से बड़ा से बड़ा बदलाव लाने में समर्थ हो। अपनी पहल पर अनुशासित और योजनाबद्ध सांगठनिक कार्रवाई से उसे एलर्जी होती है। जन लोकपाल ने इस मध्यम वर्गीय प्रवृत्ति का भरपूर लाभ उठाया।

आज का दौर सचेत रूप से इतिहास निर्माण का दौर है जहाँ समाज की हर गतिविधि संगठित शक्तियाँ संचालित करती हैं। राज्य खुद ही ऊपर से नीचे तक पूरी तरह सुसंगठित और वर्गीय शासन को चलाने वाले हर तरह के अश्त्र-शस्त्र से सुसज्जित है। इसका सामना करने के लिए एक केंद्रीकृत, अनुशासित और मजबूत संगठन का होना अनिवार्य है। यह किसी की व्यक्तिगत इच्छा से स्वतंत्रा, एक ऐतिहासिक तथ्य है।

भीड़ के सामने इस हवाई घोषणा का कोई मतलब नहीं कि 'हम लोग' सम्प्रभु हैं और सरकार जनता की नौकर है। 'हम लोग' अपनी संप्रभुता का इजहार और उसकी दावेदारी संगठन और अनुशासन के माध्यम से ही करते हैं। अगर ऐसा न हो तो 'हम लोग' किन्हीं खास लोगों को सत्ता के गलियारे तक पहुँचाने का जरिया हो सकते हैं, चाहे मतदान से या किसी अभियान से। 'जनतंत्र के आदर्शों का आनंदोत्सव' और लोकतंत्र के क्रियान्वयन में जमीन-आसमान का फर्क है। विभिन्न तबकों और वर्गों के जन संगठनों में रोज-बरोज के व्यावहारिक कामों के दौरान उससे जुड़े लोगों का जनवादीकरण और लोकतंत्र का क्रियान्वयन होता है। ऐसे संगठनों में समूह की इच्छा और बहुमत की राय सर्वोपरि होती है और व्यक्ति समूह के अधीन होता है, चाहे वह कितने भी अलौकिक गुणों और विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न क्यों न हो। नेता का कर्त्तव्य आन्दोलन और संगठन के उद्देश्य और कार्यक्रम से अपनी कतारों को परिचित कराना, उनकी चेतना बढ़ाना, उनके माध्यम से जनगण को गोलबंद और संगठित करना तथा आन्दोलन को सही दिशा में संचालित करना होता है। लेकिन जनता ही वास्तविक कर्ता होती है। अन्ना की मुहिम जिन एनजीओ के हाथों में थी उनमें इस प्रकार का कोई संगठन नहीं है। वहाँ कार्यकारी टीम और वेतनभोगी कर्मचारी होते हैं जो निश्चित अवधि और इलाके के लिए निर्धारित और वित्तपोषित, सुधारात्मक परियोजनाओं का संचालन करते हैं। ऐसे संगठन अपने दानकर्ताओं की मदद से जनता के कल्याण और भलाई के लिए काम करते हैं, उन्हें गोलबंद और संगठित नहीं करते।

इतिहास का निर्माण कोटि-कोटि जनता के सचेत प्रयासों से होता है, किसी मसीहा या महानायक के चमत्कार से नहीं। लेकिन हमारे समाज में लोकतान्त्रिक चेतना के आभाव तथा अतीत से चली आ रही नायक-पूजा और अंधश्रद्धा के गहरे प्रभाव के कारण अक्सर किसी उद्धारक के पीछे भीड़ उमड़ पड़ती है। अन्ना की मुहिम के दौरान भी ऐसा ही हुआ। रामलीला मैदान में उपस्थित जनसमूह की चेतना बढ़ाने के बजाय उनकी भावनाओं को उकसाने और अंधभक्ति को बढ़ावा देने के लिए आपातकाल के दौरान दिये गये 'इंदिरा इज इंडिया, इंडिया इज इंदिरा' की पैरोडी बनाकर 'अन्ना इज इंडिया, इंडिया इज अन्ना' का नारा दिया गया। अन्ना टीम की मुहिम में शामिल नाना प्रकार के सुधारवादियों का ढीला-ढाला मोर्चा जन लोकपाल कानून बनवाले, वही बहुत है। इतिहास का सबक है कि बुनियादी बदलाव के लिए वर्गों और तबकों के संगठित, सचेतन और धैर्यपूर्ण संघर्ष की जरूरत होती है।

अन्ना टीम का उद्देश्य और उनकी माँग

लोकपाल बिल के लिए आंदोलन चलाने वाली टीम अन्ना का उद्देश्य भ्रष्टाचार के खिलाफ एक मजबूत और स्वतंत्र कानून बनवाना, विदेशों से काले धन की वापसी तथा चुनाव

प्रणाली और न्याय व्यवस्था में सुधार लाना है।

अन्ना टीम भ्रष्टाचार को देश की सबसे बड़ी समस्या मानती है। और इस समस्या के समाधान के लिए वह एक कठोर कानून और शक्तिशाली लोकपाल के गठन को अनिवार्य मानती है। अप्रैल 2011 में अन्ना हजारे के पहले अनशन के बाद सरकार ने अन्ना टीम के 5 प्रतिनिधियों को मिला कर लोकपाल कानून की ड्राफ्टिंग कमेटी बनायी, भ्रष्टाचार के खिलाफ मुहिम चलाने वाले कई दूसरे एनजीओ और रामदेव जैसे लोगों को उससे अलग ही रखा गया। बाद में सरकार ने अन्ना टीम के कई सुझावों को उसमें शामिल नहीं किया। उसने एक बेहद कमजोर लोकपाल का मसौदा तैयार किया जिसमे भ्रष्टाचारी के लिए न्यूनतम 6 माह और अधिकतम 10 वर्ष की सजा तथा भ्रष्टाचार का आरोप गलत साबित होने पर शिकायतकर्ता को दो साल की सजा का प्रावधान है। अन्ना टीम की माँग थी कि प्रधानमंत्री, न्यायपालिका और नौकरशाही को लोकपाल के दायरे में लाया जाये। साथ ही लोकपाल कानून को क्रियान्वित करने के लिए 10 लोगों की ऐसी टीम बनायी जाये जो पुलिस, जाँच एजेंसी और न्यायाधीश तीनों की भूमिका निभाने के लिए अधिकृत हो और सर्वशक्तिमान हो। अन्ना टीम का मानना है कि अगर उनके मसौदे के आधार पर लोकपाल बिल बन गया तो देश में 60 प्रतिशत भ्रष्टाचार कम हो जाएगा।

दरअसल भ्रष्टाचार के प्रति अन्ना टीम का नजरिया सतही और भ्रामक है। उनकी निगाह में देश की सारी समस्याओं के मूल में भ्रष्टाचार है जिसके खत्म होते ही सभी मुसीबतें दूर हों जाएँगी। इस तरह वे लक्षण को रोग बताते हैं और उसे जड़ से मिटाने के बजाय नीमहकीमी इलाज तजबीज करते हैं तथा महँगाई, बेरोजगारी, शोषण और लूट-खसोट से लोगों का ध्यान हटाने का प्रयास करते हैं। दूसरे, वे केवल कानून का उल्लंघन करके काला धन कमाने को ही भ्रष्टाचार मानते हैं। पिछले 20 वर्षों से सरकार कानून में फेर-बदल कर के श्रम और सार्वजनिक सम्पत्ति की लूट को बेलगाम करती जा रही है, 1991 के पहले जो-जो भ्रष्टाचार था उस सब को शिष्टाचार में बदलती जा रही है, उससे उन्हें कोई उज्र नहीं।

जो लोग बेलगाम लूट-खसोट से निजात पाने के लिए अन्ना टीम के समर्थन में बड़ी संख्या में सड़कों पर उतरे, उनकी चाहत जायज है, लेकिन सवाल यह है कि क्या इस सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था के बने रहते हुए एक कानून, एक संस्था और एक सर्वसत्ता सम्पन्न लोकपाल पद का सृजन कर देने से भ्रष्टाचार पर रोक लग जायेगी? आजादी के बाद से अब तक भ्रष्टाचार पर रोक लगाने के लिए पाँच दर्जन से ज्यादा कानून बने और कई जाँच समितियों का गठन किया गया जिनमें से एक है केन्द्रीय सतर्कता आयोग जिसे 1998 और 2004 में कानून बनाकर पहले से ज्यादा अधिकार दे दिये गये। लेकिन कहावत है कि कानून बनते ही तोड़ने के लिए हैं। हर नये कानून के साथ भ्रष्टाचार पहले से कहीं अधिक विकराल रूप धारण करता गया। यही हाल दूसरे कानूनों का भी है।

क्या कठोर कानून के बावजूद दहेज उत्पीड़न आज भी जारी नहीं है? क्या भ्रूण हत्या के विरुद्ध कानून बना दिए जाने से भ्रूण हत्या बंद हो गयी? क्या बाल श्रम कानून बनने से बच्चों से काम लेने पर लगाम लगी? क्या दलित उत्पीड़न के खिलाफ कानून बन जाने से दलितों का उत्पीड़न समाप्त हुआ? सच तो यह है कि जब भी किसी समस्या के प्रति लोगों का आक्रोश और असंतोष बढ़ता है तो सरकार खुद ही उसके लिए कानून बना कर अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री कर लेती है। भ्रष्टाचार के मामले में भी वह यही कर रही है। क्या अन्ना टीम अपनी इस कानूनवादी, सुधारवादी माँग के जरिये सरकार के इसी पुराने, आजमाए हुए पैंतरे में सहयोगी भूमिका नहीं निभा रही है? कहावत है 'प्रभुता पाई काहि मद नाहीं।' अंग्रेजी कहावत है कि 'पावर करप्ट्स एण्ड एब्सलूट पावर करप्ट्स एब्सलूटली'। सर्वाधिकार संपन्न लोकपाल भी भ्रष्ट नहीं होगा इसकी क्या गारण्टी है?

मजेदार बात यह है कि अन्ना टीम ने पूँजीपतियों, व्यापारियों, सटोरियों, काला बाजारियों, एनजीओ चलाने वालों, धार्मिक संस्थाओं और मीडिया को अपने लोकपाल की गिरफ्त से बाहर रखा है। ए. राजा आज बिना लोकपाल के भी जेल में हैं, जबकि 1,75,000 करोड़ डकार जाने वाले मोबाइल कम्पनियों के मालिक देशी-विदेशी पूँजीपतियों का लोकपाल कानून भी कुछ नहीं बिगाड़ पायेगा। पिछले दिनों नीरा राडिया कांड ने पूँजीपति और मीडिया के अपवित्र गठबंधन को सामने ला दिया था। लेकिन प्रधानमंत्री से लेकर राज्य के छोटे कर्मचारियों तक को लोकपाल के दायरे में लाने पर बजिद अन्ना टीम ने अपने जन लोकपाल से उन्हें बेलाग रखा।

क्या अन्ना टीम की माँग पूरी हो गयी! अनशन समाप्ति के बाद के विजयोल्लास और मीडिया के अन्धाधुँध प्रचार से तो ऐसा ही जान पड़ता है, लेकिन हकीकत कुछ और है।

रामलीला मैदान के मंच से अन्ना ने घोषणा की थी कि सरकार लोकपाल का अपना मसौदा वापस ले और उसकी जगह जन लोकपाल बिल संसद में पेश करे। कानून बनाने के लिए अन्ना टीम ने सरकार को 30 अगस्त तक का समय दिया था और उद्घोष किया था कि कानून बनने तक अन्ना का अनशन और आंदोलन जारी रहेगा।

लगातार वार्तालापों का दौर चला और अंततः अन्ना टीम ने प्रधानमंत्री और न्यायपालिका को जन लोकपाल के दायरे में लाने सहित कई माँगों को छोड़ते हुए केवल कम महत्त्व वाले तीन मुद्दों पर संसद में प्रस्ताव पेश करने की शर्त रखी - **1**. राज्यों में लोकायुक्त की नियुक्ति, **2**. सिटिजन चार्टर के जरिये सरकारी दफ्तरों में हर काम के लिए निश्चित समय का निर्धारण और **3**. राज्य के सभी कर्मचारियों को लोकपाल के अधीन लाना। सरकार ने न तो संसद में कोई प्रस्ताव पास किया और न ही कानून बनाने के लिए कोई समय सीमा तय की। केवल संसद की भावना व्यक्त करते हुए कांग्रेस और भाजपा के नेताओं ने एक संयुक्त वक्तव्य दिया। अन्ना टीम ने सम्मानपूर्वक पीछे हटने

के लिए उसी वक्तव्य को आधार बना कर आंदोलन वापस ले लिया और इसे 'आधी जीत' बताते हुए अपनी पीठ थपथपा ली।

जन लोकपाल आंदोलन ने एक बार फिर यह दिखा दिया कि वैचारिक उहापोह और सांगठनिक अफरातफरी के बल पर मामूली सुधारवादी और सतही माँगों को पूरा करवाना भी सम्भव नहीं।

आंदोलन के नेतृत्व की संरचना

अन्ना टीम की भ्रष्टाचार मुहिम के साथ ही सिविल सोसाइटी (भद्रलोक समाज) एक बहुचर्चित शब्द हो गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है- भद्र, शिष्ट, सुसभ्य, परिष्कृत, नगरवासी। जाहिर है कि 70 प्रतिशत ग्रामीण आबादी और शहरों की आधी गरीब आबादी इस श्रेणी में नहीं आती। जन लोकपाल आन्दोलन का नेतृत्व और उनके समर्थक इसी 'सिविल सोसायटी' के लोग हैं। सिविल सोसाइटी या भद्रलोक की अवधारणा कोई नयी नहीं है। प्राचीन रोमन साम्राज्य में गुलामों को मनुष्य की श्रेणी में नहीं माना जाता था। गुलामों के मालिक अभिजात वर्ग के अलावा स्वतंत्र नागरिकों का समूह इसी श्रेणी में आता था जो अपनी सामाजिक हैसियत और पक्षधरता में कुलीन वर्ग के करीब था। आधुनिक युग में यह सभ्य, सुसंस्कृत और खुशहाल भद्रलोक पूँजीपति वर्ग और पूँजीवादी व्यवस्था का परम हितैषी है।

विश्व बैंक की परिभाषा के अनुसार ''सिविल सोसाइटी पद का सम्बन्ध गैर-सरकारी संगठन और बिना मुनाफे वाले संगठनों के व्यापक विन्यास से है जो अपने सदस्यों तथा दूसरों के हितों एवं मूल्यों को नैतिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, धार्मिक या लोकोपकारी विचारों के आधार पर अभिव्यक्त करने वाले के रूप में सार्वजनिक जीवन में अपनी उपस्थिती दर्ज करा चुके हैं। इस तरह सिविल सोसाइटी संगठन, संगठनों के एक व्यापक विन्यास को दिखाते हैं- सामुदायिक समूह, गैर-सरकारी संगठन (एनजीओ), श्रमिक संघ, मूल निवासी समूह, दानकर्ता संगठन, धार्मिक संगठन, पेशेवर लोगों के ट्रस्ट।''

विश्व बैंक सिविल सोसाइटी शब्द का प्रयोग एनजीओ के स्थान पर करता है जिन्हें अपनी योजनाओं में शामिल करने के लिए वह 70 के दशक से ही प्रयासरत रहा है और 1990 के बाद उसने इस प्रयास को तेज किया है। उसका मानना है कि ''वैश्वीकरण की प्रक्रिया तथा लोकतांत्रिक शासन, संचार माध्यम और आर्थिक एकीकरण के विस्तृत होने की सहायता से पिछले दशक में विश्व स्तर पर सिविल सोसाइटी के आकार, कार्य क्षेत्र और क्षमता में नाटकीय विस्तार हुआ है। अन्तरराष्ट्रीय संगठनों की वार्षिकी के अनुसार अन्तरराष्ट्रीय एनजीओ की संख्या 1990 में 6000 से बढ़कर 2006 में 50,000 हो गयी। सिविल सोसाइटी संगठन आज वैश्विक विकास सहायता कार्यक्रमों में महत्त्वपूर्ण खिलाड़ी

हो चुके हैं। ओईसीडी का अनुमान है कि 2006 में इन संगठनों ने 15 अरब डॉलर की सहायता उपलब्ध करने में सहयोग किया। विश्व बैंक के मुताबिक इन संगठनों ने दुनिया भर में अपने विभिन्न हिमायती अभियानों (एडवोकेसी कैम्पेन) के दौरान हजारों समर्थकों को गोलबंद किया। 'वैश्विक सिविल सोसाइटी की अनुगूँज' की ताजा अभिव्यक्ति विश्व सामाजिक मंच (डब्लूएसएफ) है जिसका वार्षिक आयोजन 2001 से विभिन्न महाद्वीपों में किया जा रहा है और जिसने वैश्विक विकास के मुद्दों पर विचार विमर्श के लिए अपने हजारों कार्यकर्ताओं को एक साथ ला खड़ा किया। दूसरा उदाहरण 'गरीबी के खिलाफ कार्रवाई का वैश्विक आह्वान' (जीसीएपी) के तहत गरीब देशों की कर्ज माफी और ज्यादा बड़ी सहायता की हिमायत करने के लिए चलाया गया अभियान है। 2008 में दुनिया भर के शहरों में आयोजित कार्यक्रमों में 1.6 करोड़ नागरिकों ने भाग लिया। भ्रष्टाचार के खिलाफ विश्वव्यापी अभियान भी विश्व बैंक की कार्यसूची में शामिल है।

1990 में बर्लिन की दीवार गिराए जाने और रूसी खेमे के विघटन के साथ विश्व शक्ति संतुलन में भारी बदलाव आया। अमेरिका के नेतृत्व में 'वाशिंगटन आम सहमति' के आधार पर पूरी दुनिया में नवउदारवादी, नग्न पूँजीवादी विश्व साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का अभियान शुरू हुआ। पूरी दुनिया में पूँजीवादी शोषण के सम्बन्ध कायम किये गये। पूँजी की निर्मम लूट और मुनाफाखोरी के रास्ते से सारे अवरोध हटा दिये गये। पूँजीवाद के इस नये बर्बर दौर को एक मात्र विकल्प बताने और न्यायसंगत ठहराने के लिए विचारों की आँधी चलायी गयी, मीडिया द्वारा लोगों के मन-मस्तिष्क को पूँजीवाद के अनुरूप ढालने का चौतरफा और अन्धाधुंध प्रयास शुरू हुआ।

इस अन्धी लूट-खसोट का विनाशकारी प्रभाव होना तय था। इन चौतरफा दुष्परिणामों पर पर्दा डालने के लिए साम्राज्यवादी समूह ने तरह-तरह के उपाय किये। साथ ही, 'सिविल सोसाइटी' और एनजीओ को भरपूर भौतिक मदद देकर खड़ा किया। नवउदारवादी पूँजीवाद अपने अन्तर्निहित कारणों से जो नयी-नयी सामाजिक बीमारियाँ उत्पन्न करता है उनके खिलाफ आन्दोलन चलाकर उनमें कुछ हद तक सुधार लाने का काम इन संगठनों को सौंपा गया। गरीबी, पर्यावरण विनाश, कर्ज संकट, तानाशाही और भुखमरी से लेकर वैश्वीकरण के घातक परिणामों तक, तरह-तरह के मुद्दों पर एनजीओ ने दुनिया भर में हिमायत अभियान (एड्वोकेसी कैम्पेन) चलाये, जिनका उपरोक्त उद्धरण में विश्व बैंक ने जिक्र किया है।

इस पूरी परिघटना का सार है-- राजनीतिक आन्दोलन की जगह सामाजिक आन्दोलन, वर्गों और तबकों के संगठनों की जगह एनजीओ के सामाजिक अभियान और सुधारवादी-कानूनवादी-वर्गेतर संगठन, आम तौर पर हर तरह की राजनीति का विरोध, पूँजीवाद का विकल्प प्रस्तुत करने की जगह उससे पल-प्रतिपल पैदा होने वाली समस्याओं को लेकर मुद्देवार, स्थानीय और तात्कालिक आन्दोलन। जुझारू संघर्ष की जगह जनहित

याचिका, मोमबत्ती जुलूस, मानव शृंखला, भूख हड़ताल और गाँधीगिरी जैसे नये ढंग के आन्दोलन, लोगों की व्यापक गोलबंदी और दीर्घकालिक निर्णायक लड़ाई की जगह भद्रजनों, मीडिया, एनजीओ कर्मियों द्वारा प्रतीकात्मक आन्दोलन, यानी रोग को मिटाने की जगह लक्षण को दबाना।

साम्राज्यवादी समूह ने रूस और पूर्वी यूरोप में राजकीय पूँजीवाद की जगह नग्न पूँजीवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए गुलाबी, बैंगनी, नारंगी और चमेली क्रांतियों में सहयोग करने के लिए 'नागरिक समाज' और एनजीओ को एक रणनीति के रूप में सफलतापूर्वक इस्तेमाल किया था। इसके लिए अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं और फण्डिंग एजेंसियों के जरिये उन्हें भरपूर धन मुहैय्या कराया गया था। अब तो यह नवउदारवाद का आजमाया हुआ राजनीतिक उपकरण बन गया है।

1990 के बाद दुनिया भर में एनजीओ परिघटना और उनकी संख्या में तेजी से विकास हुआ है। साम्राज्यवादी देशों में तो इसे अर्थव्यवस्था के तीसरे क्षेत्र के रूप में स्थापित किया गया है। सरकार द्वारा सामाजिक सेवाओं का निजीकरण करके उनसे हाथ खींचने के बाद, जब निजी पूँजीपतियों ने शिक्षा-चिकित्सा जैसी सरकारी सेवाओं को मुनाफे का धंधा बनाकर गरीब जनता को उनसे वंचित किया तो अभावग्रस्त लोगों के लिए एनजीओ को मानवतावादी चेहरे के साथ मैदान में उतारा गया। इस परिघटना को आगे बढ़ाने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने नागरिक समाज के लिए एक पैनल का गठन किया। विश्व बैंक ने भी इस दिशा में कई परियोजनाएँ शुरू की और हर देश में एनजीओ और नागरिक समाज का भरपूर सहयोग लिया।

भारत में 1991 में नवउदारवादी नीतियाँ लागू होने के बाद एनजीओ का तेजी से विस्तार हुआ है। मजदूर आन्दोलन की कमजोरी और बिखराव ने एनजीओ के लिए अनुकूल अवसर प्रदान किया। वामपंथ के खिलाफ पूँजीवादी मीडिया के विश्वव्यापी अन्धाधुंध प्रचार से उन्हें वैचारिक आधार मिला जिसने हर तरह के प्रतिगामी मूल्यों का महिमामंडन किया और मुक्त बाजारवाद को एक मात्र विकल्प के रूप में स्थापित किया। आज भारत में 15 लाख नागरिक समाज संगठन या एनजीओ हैं जिनमें 1.9 करोड़ स्वयंसेवकों को रोजगार मिला हुआ है। ये संगठन पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकार और सहयोगी हैं और उसी के दायरे में काम करते हैं। इनका काम पूँजीवाद को दीर्घायु बनाने के लिए उसकी बुराइयों से लड़ना है। भ्रष्टाचार भी पूँजीवाद की ऐसी ही एक अन्तर्निहित बुराई है जिसके खिलाफ टीम अन्ना ने मुहिम छेड़ी है।

पूँजीवादी लोकतंत्र के मौजूदा दौर में जब संसद और विधान सभाओं में नीतिगत मुद्दों पर पक्ष-विपक्ष जैसा कोई बटवारा रह नहीं गया है और नवउदारवादी नीतियों के चलते जनता का आक्रोश सभी हदें पार करता जा रहा है, तब नागरिक समाज संगठनों को सुरक्षा कवच के रूप में सामने लाया जा रहा है। जन भागीदारी, समावेशी विकास, जनता की

जागरुकता, सरकार की जवाबदेही, विकास में सहभागिता, प्रशासनिक सुधार जैसे मनभावन नारों का निहितार्थ यही है। पूँजीवादी लोकतंत्रा को कारगर बनाने और जनाक्रोश को नियंत्रित रखने के लिए नागरिक समाज के आन्दोलन और प्रतिपक्ष की छद्म रचना जरूरी है। नागरिक समाज के कुछ अभिजात लोग किसी मुद्दे पर इकठ्ठा होते हैं और किसी लोकतांत्रिक प्रक्रिया के बिना ही वे राजनीतिक शक्ति सम्पन्न, स्वयंभू जन प्रतिनिधि और 'जनता की आवाज' बन जाते हैं। साम्राज्यवादी संस्थाएँ उन्हें पुरस्कृत करके जल पुरुष, थल पुरुष या नभ पुरुष बनाती हैं, अन्तरराष्ट्रीय फण्डिंग एजेंसियाँ उनका खर्चा उठाती हैं, मीडिया उनके लिए सहमति गढ़ता है, उन्हें स्थापित करता है और सरकार उन्हें स्वीकार कर लेती है। यह जन आंदोलनों के भावी तूफानों से बचने की तमाम तैयारियों में से एक है।

विश्व बैंक के एक अधिकारी ने पिछले दिनों अपने एक साक्षात्कार में नागरिक संगठनों के महत्त्व को रेखांकित करते हुए कहा था कि ''मंदी का सामना कर रही वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था और अरब देशों में उथल-पुथल को देखते हुए विभिन्न देशों में ऐसे संगठनों को अपनी ओर आकर्षित करना जरूरी है। विश्व बैंक ने इसके लिए एक मुकम्मिल योजना तैयार की है जिसमें विभिन्न स्तरों पर सम्पर्क, सम्मलेन, शिक्षण-प्रशिक्षण और वित्तपोषण सब शामिल है। भ्रष्टाचार के खिलाफ अभियान भी विश्व बैंक की एक परियोजना है जिसमें हेरिटेज फाउन्डेशन, फोर्ड फाउन्डेशन, ट्रांसपिरेन्सी इंटरनेशनल सहित कई अन्तरराष्ट्रीय संस्थाएँ और फंडिंग एजेंसियाँ सहयोगी भूमिका निभा रही हैं। कैसी विडंबना है कि तीसरी दुनिया के शासकों के साथ मिली-भगत करके उन्हें भ्रष्ट बनाने के लिए जिम्मेदार अन्तरराष्ट्रीय साम्राज्यवादी संस्थाएँ ही भद्रलोक को साथ लेकर भ्रष्टाचार के खिलाफ मुहिम छेड़ रही हैं। कुछ साल पहले विश्व बैंक से इस्तीफा देने वाले उसके एक उच्च अधिकारी डेविसन एल. बुधु ने एक किताब लिखी थी- *एनफ इज एनफ* जिसमें उसने विश्व बैंक द्वारा दुनिया भर में भ्रष्टाचार फैलाने वाले अभियानों का कच्चा चिट्टा खोला था। उसका कहना था कि हमारे हाथ से इतने अपराध हुए हैं कि उनके खून के धब्बे सात समुन्दर के पानी से भी नहीं धुल पाएँगे।

अन्ना टीम में शामिल भद्रलोक किसी न किसी एनजीओ का संचालन करते हैं। वे इस नवउदारवादी पूँजीवादी व्यवस्था के समर्थक हैं तथा उसे कारगर और बेहतर बनाने के लिए उसकी बुराइयों को दूर करना चाहते हैं। जनता से पूरी तरह कटा हुआ यह भद्रलोक यदि चाहे भी तो किसी सही जनान्दोलन का नेतृत्व करने, राज्य का दमन झेलने और कष्ट सहने में असमर्थ है। कानून-व्यवस्था के दायरे में रहकर यह प्रतीकात्मक, प्रायोजित आन्दोलन या जनहित याचिका दायर कर सकता है। इससे आगे जाना इस समूह के लिए सम्भव नहीं है।

भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन के अनुयायी कौन और क्यों?

अन्ना टीम की भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम में शहरी मध्यम वर्ग ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। इस आन्दोलन का समर्थक और जनाधार यही वर्ग था। समाज का मुखर तबका होने के कारण यह किसी मुद्दे पर राय बनाने में आम तौर पर सबसे प्रभावी भूमिका निभाता है। मीडियाकर्मी जब भी किसी विचार पर मत संग्रह करते हैं या पैनल डिस्कशन आयोजित करते हैं तो वे 'सिविल सोसाइटी' यानी मध्यम वर्ग की ही राय लेते हैं, जैसे- एनजीओ चलाने वाले, पत्रकार, खिलाड़ी, अभिनेता, विभिन्न पेशों से जुड़े लोग, प्रतिष्ठित संस्थानों के छात्र, बुद्धिजीवी, मानवाधिकार कार्यकर्ता और अन्य लोग। मध्यम वर्ग के अधिकांश लोग सक्रिय राजनीति से दूर रहना ही पसंद करते हैं। 'नो पोलिटिक्स प्लीज', 'विचार और जूते दरवाजे पर उतार कर आयें' और 'पॉलिटिक्स इज लास्ट रिफ्यूज ऑफ स्काउनड्रेल्स' उनके प्रिय नारे हैं। इसीलिए अन्ना के मीडिया प्रेरित आन्दोलन में मध्यम वर्ग की भारी पैमाने पर हिस्सेदारी ने बहुतेरे लोगों को चकित, भ्रमित और भावविह्वल किया। इसे अभूतपूर्व और ऐतिहासिक महत्त्व की घटना बताया गया जो काफी हद तक सही भी है। इस मुहिम में मध्यम वर्ग की अति सक्रियता को पिछले बीस वर्षों के दौरान उसके आकार, सामाजिक, आर्थिक स्थिति और चारित्रिक बदलाव से अलग करके नहीं समझा जा सकता है।

1991 में नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद से ही आर्थिक विमर्श में मध्यम वर्ग को काफी महत्त्व दिया जाने लगा था। विदेशी निवेशकों को रिझाने के लिए सरकार और मीडिया ने मध्यम वर्ग की संख्या को बढ़ा-चढ़ा कर बताना शुरू किया था। सही संख्या का पता लगाने के लिए कई देशी-विदेशी संस्थाओं ने सर्वेक्षण किये और एक ही साथ 5 करोड़ से लेकर 30 करोड़ तक के आँकड़े सामने आये। इन प्रयासों के पीछे क्रय-शक्ति और उपभोग-क्षमता का पता लगाना था ताकि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने माल और सेवाओं के उपभोक्ताओं का सही-सही अंदाजा लगा सकें। यह काफी कठिन काम था क्योंकि उस दौरान सीमित आमदनी के चलते मध्यम वर्ग के जीवन स्तर और उपभोग पैटर्न में काफी भिन्नता थी। 25 साल पहले वास्तविक जीवन में और फिल्मों में भी ठेठ मध्यम वर्गीय चरित्र (अमोल पालेकर या संजीव कुमार) का जीवनस्तर आज की तुलना में भला क्या था? कितने मध्यम वर्गीय परिवार वाशिंग मशीन, माइक्रोवेव ओवन, कार और होली डे पैकेज का उपभोग करते थे? लेकिन आज स्थिति भिन्न है। मध्यम वर्ग की संख्या में वृद्धि और उनकी खुशहाली के लिए शासक वर्ग अपनी पीठ थपथपाते हैं और इसे अपनी नीतियों की सफलता का प्रमाण बताते हैं तो यह ठीक ही है। विजय सुपर स्कूटर से लेकर नये मॉडल की गाड़ियों तक, पलस्तर झड़ते किराये के मकान से आलीशान अपार्टमेंट के मालिकाने तक तथा सरकारी स्कूलों-अस्पतालों से सम्पन्न पाँच सितारा

स्कूलों-अस्पतालों तक की यात्र जितनी तेजी से पूरी हुई, उसके बारे में 1990 से पहले किसी ने कल्पना भी नहीं की थी।

बाजार अर्थव्यवस्था को गतिशील बनाने के लिए थोड़ी संख्या वाले पहले से मौजूद मध्यम वर्ग की तादाद और आमदनी बढ़ाना जरूरी था। साथ ही अगर शासकों ने अपनी नीतियों के समर्थक और सहयोगी तथा अपने जनाधार का विस्तार नहीं किया होता तो समाज का मुखर तबका होने के नाते मध्यम वर्ग इन नीतियों के खिलाफ निरन्तर जारी जनांदोलनों को तेज करने में भूमिका निभाता रहता। मध्यम वर्ग के विभिन्न हिस्सों ने '90 के दशक के पूर्वार्ध में नयी आर्थिक नीतियों का प्रबल विरोध किया था, जिनमें सार्वजनिक क्षेत्र और सरकारी विभागों के कर्मचारी, व्यापारी, शिक्षक, छात्र तथा पत्रकारों, बुद्धिजीवियों और पेशेवरों का एक हिस्सा शामिल था। आज मध्यम वर्ग में विरोध का वह स्वर कहीं दूर-दूर तक सुनाई नहीं पड़ता है। उसकी जगह अब वहाँ से 'शाइनिंग इंडिया', 'अतुल्य भारत', 'मेरा भारत महान', 'आई लव माई इंडिया', 'जय हो' की अनुगूँज आ रही है।

पिछले बीस वर्षों के दौरान देश की कुल आय का बटवारा इस तरह पुनर्गठित किया गया कि शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के बीच, वास्तविक उत्पादन और उस पर निर्भर सेवा क्षेत्र के बीच की तथा गाँव और शहर के बीच खाई लगातार चौड़ी होती गयी। पाँचवें और छठे वेतन आयोग ने केंद्र, राज्य और सार्वजनिक क्षेत्र में कार्यरत लोगों के वेतन भत्तों में भारी वृद्धि की तथा न्यूनतम तथा अधिकतम वेतनमान में भारी अन्तर पैदा किया। निजी क्षेत्र के प्रबंधकों और मानसिक श्रम करने वालों के वेतन में तो काफी तेजी से वृद्धि हुई, लेकिन वहाँ प्रत्यक्ष उत्पादन और शारीरिक श्रम करने वालों की न्यूनतम मजदूरी भी तय नहीं है। इन सभी उपायों से ऊँची आय और क्रय-शक्ति वाला माध्यम वर्ग का एक छोटा तबका पैदा हुआ जबकि बड़ी संख्या में लोगों को बाजार से बहिष्कृत कर दिया गया। यह यात्र उतनी ही विकृतिपूर्ण और असंगत रही है जितनी वास्तविक उत्पादन वाले कृषि और उद्योग की कीमत पर सेवा क्षेत्र का असामान्य और गैर-अनुपातिक विस्तार। निश्चय ही यह सहज स्वाभाविक प्रक्रिया में नहीं बल्कि सरकार के सचेत प्रयास और उदारीकरण-निजीकरण की उन्हीं नीतियों के चलते घटित हुआ है जिनके कारण देश की बहुसंख्य मेहनतकश जनता आज तबाही की चपेट में आकर कराह रही है।

उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के चलते सेवा क्षेत्र-- आईटी, कम्युनिकेशन, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, रियल इस्टेट, फाइनांस, शेयर बाजार, बीपीओ, केपीओ तथा निजी अस्पतालों और शिक्षण संस्थानों में रोजगार के नए अवसर पैदा हुए जिससे आबादी के एक छोटे से हिस्से की आय में काफी वृद्धि हुई। देश की अर्थव्यवस्था में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की घुसपैठ से भी शहरों में खास तरह के रोजगार और मध्यम वर्ग की एक नयी जमात तैयार हुई। इस तरह निजीकरण, बाजारवादी अर्थव्यवस्था और नवउदारवादी नीतियों

के परिणामस्वरूप मध्यम वर्ग की आमदनी और तादाद में इजाफा हुआ। इसका ऊपरी हिस्सा आम तौर पर इन नीतियों का प्रबल समर्थक है और आर्थिक नवउपनिवेशवादी मौजूदा ढाँचे का सामाजिक अवलम्ब है।

भारत में नवउदारवादी नीतियों के प्रस्तोता और प्रवर्तक पूँजीपति वर्ग और उसके राजनीतिक नुमाइंदे थे लेकिन उच्च मध्यम वर्ग भी शुरू से ही इसका प्रबल समर्थक था। इस वर्ग का सपना था कि वैश्वीकरण-उदारीकरण भारत को विकसित देशों की कतार में ला खड़ा करेगा, भारत को महाशक्ति बना देगा, यहाँ की हर चीज विश्वस्तरीय हो जायेगी और भारत स्वर्ग बन जायेगा। भारत को महाशक्ति बनाने में यह वर्ग कैसे अपना योगदान कर सकता है, इसकी झलक स्वदेश और रंग दे बसंती जैसी फिल्मों में दिखायी गयी है। लेकिन उच्च मध्यम वर्ग जब वर्तमान यथार्थ पर निगाह डालता है तो उसे नवउदारवादी सपना साकार होते नहीं दिखता। उन नीतियों का अन्धभक्त होने के कारण वह उनमें कोई कमी नहीं देखता। उसे लगता है कि सारी बुराई भ्रष्ट नेताओं और नौकरशाहों, यानी सरकार में है जो अपना काम ठीक से नहीं करती। 'मुस्लिम तुष्टिकरण', आरक्षण, गरीबों के लिए सस्ता अनाज, रोजगार गारंटी जैसी नीतियों को वह नेताओं की वोट बैंक की राजनीति और नवउदारवादी, बाजारवादी नीतियों के रास्ते का रोड़ा मानकर आलोचना करता है। भ्रष्टाचार को भी वह ऐसी ही बाधा मानता है जो कुछ भ्रष्ट और स्वार्थी नेताओं द्वारा खड़ी की गयी है। उसका मानना है कि भ्रष्टाचार ही सारी समस्याओं की जड़ है जिसे दूर करना कोई मुश्किल काम नहीं है। इसका एक ही सरल उपाय है कि कठोर कानून बानाओ। उधर सरकार की मजबूरी यह है कि उसे वोट लेने के लिए कुछ लोक-लुभावन कार्यक्रम बनाने पड़ते हैं। व्यवस्था को चलाने और चुनाव जीतने के लिए भ्रष्टाचार को बनाए रखना होता है। जबकि भद्रलोक के सामने ऐसी कोई मजबूरी नहीं।

अन्ना टीम के आन्दोलन का आधार यही उच्च मध्यम वर्ग है। ऊपर से देखने पर ऐसा लग सकता है कि सरकार के खिलाफ आवाज उठाकर यह उसी थाली में छेद कर रहा है जिसमें खाता है। लेकिन वास्तव में यह मुहिम शासक वर्गों के विरुद्ध नहीं बल्कि भ्रष्टाचार मिटा कर नवउदारवादी बाजार अर्थव्यवस्था को दीर्घायु बनाने के लिए है। अन्ना आन्दोलन ने यह साबित कर दिया है कि सरकार और भद्रलोक के बीच का टकराव मित्रवत है। यह आन्दोलन सरकार की नीतियों के खिलाफ नहीं, मूल ढाँचे के खिलाफ नहीं। भद्रलोक इस भ्रष्टतंत्र को समाप्त करने की बातें नहीं करता, बल्कि भ्रष्टाचार मुक्त करके उसे और बेहतर बनाने में मदद करना चाहता है। वह इस सड़ते, बदबू फैलाते लोकतंत्र की सफाई करना चाहता है ताकि देशी-विदेशी पूँजीपति कारगर तरीके अपना कर लूटतंत्र जारी रखें और भद्रलोक के स्वर्ग का वैभव बढ़ाते रहें।

अन्ना आंदोलन और मुख्यधारा की मीडिया

अन्ना टीम के जनलोकपाल आन्दोलन में मीडिया की भूमिका को लेकर भी काफी सवाल उठे। इसमें संदेह नहीं कि दिन-रात सीधा प्रसारण के लिए अपने क्रेन और क्रू के साथ अगर टीवी चैनल सक्रिय नहीं होते, तो इस आन्दोलन में स्वतःस्फूर्त तरीके से इतने लोग शामिल नहीं होते। जन आंदोलनों के प्रति मीडिया के परम्परागत रवैये को देखते हुए यह सक्रियता भले ही अचम्भे में डालने वाली लगती हो लेकिन आन्दोलन के चरित्र और मीडिया की प्राथमिकता पर गौर करें तो उसकी भूमिका अस्वाभाविक नहीं लगेगी।

अपने एक अध्ययन में पत्रकार विपुल मुद्गल (सीएसडीएस) ने सर्वाधिक प्रसार वाले अंग्रेजी और हिंदी के तीन-तीन अखबारों के 48 अंकों का विश्लेषण किया। इन अखबारों ने अपने सम्पादकीय पन्ने का केवल 2 प्रतिशत ग्रामीण इलाकों में रहने वाली दो तिहाई जनता की समस्याओं पर खर्च किया। इन अखबारों में छपने वाली 100 से 200 सामग्री में से औसतन तीन सामग्री ग्रामीण मुद्दों पर थी। इनमें भी अधिकांश सामग्री अपराध, हिंसा और दुर्घटनाओं से सम्बंधित थी। समाचारों के चुनाव के मामलों में हिंदी और अंग्रेजी अखबारों के चरित्र में कोई खास फर्क नहीं पाया था, जबकि हिंदी अखबारों के अधिकांश पाठक ग्रामीण क्षेत्र के लोग होते हैं।

इन अखबारों का झुकाव उपभोक्ता केंद्रित होता है और उनकी निगाह ऊपर उठते पढ़े-लिखे शहरी उपभोक्ताओं पर होती है जिनकी दुनिया में गरीबी और पिछड़ेपन के लिए कोई जगह नहीं होती। इस मामले में टीवी चैनलों का रिकार्ड तो और भी खराब है। वहाँ तो सब कुछ नवधनाढ्य उपभोक्ता वर्ग के लोगों के मनोरंजन के लिए है।

मीडिया को लोकतंत्र का चौथा स्तंभ माना जाता है। नवउदारवादी दौर में लोकतंत्र के अन्य स्तंभों की तरह मीडिया भी बुरी तरह भ्रष्टाचार में लिप्त है। नीरा राडिया प्रकरण ने पूँजीपति, नेता और मीडिया के अपवित्र गठबंधन को उजागर किया। इसके पहले नोट के बदले समाचार लिखने का मामला देश भर में चर्चा का विषय बना था। पहले भी सरकार और पूँजीपतियों से प्राप्त होने वाले विज्ञापन और सुविधाओं से मीडिया का चरित्र प्रभावित होता था। लेकिन मौजूदा दौर में देशी-विदेशी पूँजीपतियों द्वारा भारी पूँजी निवेश ने मीडिया को विराट पूँजी प्रतिष्ठानों में बदल दिया। इसकी प्राथमिकता पूँजीवाद की हिफाजत करना और साथ ही अपनी पूँजी का विस्तार करना रह गया है। 'स्वतंत्र' और 'निष्पक्ष' होने का मुखौटा भी अब नहीं रहा। उसने अपने आप को जनता से पूरी तरह काट लिया है। ख्यातिलब्ध पत्रकार पी. साईनाथ ने इग्नू में एक व्याख्यान देते हुए मीडिया के इस बदले चरित्र को सारगर्भित रूप में प्रस्तुत किया - ''आज अखबारों में कोई श्रमिक संवाददाता नहीं है, आवास और प्राथमिक शिक्षा का कोई संवाददाता नहीं है। इस देश की 70 प्रतिशत

आबादी से हम साफ कह रहे हैं कि हमें उनसे कोई लेना-देना नहीं है।'' उनका कहना था कि ''निजी सुलहनामों के खंडहर पर जरखरीद खबरें उठ खड़ी हुई हैं। निजी सुलहनामों ने मीडिया कम्पनियों को अपनी कम्पनियों में शेयर दिए थे जो 2008-09 के शेयर बाजार के डूबने के साथ ही रद्दी में बदल गए। जरखरीद खबरों ने इन भ्रष्ट कम्पनियों और राजनेताओं को विधानसभा और आम चुनावों के दौरान इस लायक बनाया कि वे मीडिया के साथ बेनामी लेन-देन कर सकें।''

मीडिया के चरित्र पर इस संक्षिप्त चर्चा की पृष्ठभूमि में यह समझना कठिन नहीं कि अन्ना के जन लोकपाल आन्दोलन के दौरान मीडिया ने इतनी सक्रियता क्यों दिखायी और क्यों सातों दिन चौबीस घंटे हर छोटी-छोटी बातों का भी ग्राफिक चित्रण करती रही। यह अकारण नहीं कि प्रधानमंत्री को जन लोकपाल बिल के दायरे में लाने के लिए बजिद टीम अन्ना मीडिया को उससे अछूता रखने का हामी है। मीडिया के मालिकों, पत्रकारों, विज्ञापन दाताओं और लक्षित दर्शकों-पाठकों तथा अन्ना आंदोलन के नेताओं-समर्थकों के बीच अद्भुत वैचारिक और वर्गीय एकरूपता है। दलित, पिछड़े, आदिवासी और मुस्लिम संगठनों का यह आरोप बिलकुल सही है कि भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन के नेतृत्व पर सवर्ण हिंदू मानसिकता के लोग हावी हैं। मीडिया पर भी इसी तबके का वर्चस्व है जो काफी हद तक मीडिया की प्राथमिकता और पक्षधरता तय करता है। अन्ना आन्दोलन के समानांतर उसी समय दिल्ली में दलित, पिछडों, अल्पसंख्यकों की एक रैली हुई थी जिसे मीडिया ने तरजीह नहीं दी। इससे पहले आरक्षण विरोधी आन्दोलन के समर्थन में भी मीडिया ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था। दिल्ली में मजदूरों-किसानों और अन्य मेहनतकश तबकों की रैलियों और प्रदर्शनों के प्रति मीडिया का रुख या तो अनदेखी करने का या उसे बदनाम करने का ही रहा है। इसी वर्ष फरवरी में देश की 9 प्रमुख ट्रेड यूनियनों की रैली के प्रति मीडिया ने ऐसा ही रवैया अपनाया। उसने आन्दोलन को अपेक्षित स्थान नहीं दिया और कहीं चर्चा भी की तो इस रूप में कि इसके चलते दिल्ली में यातायात को कितना व्यवधान पहुँचा और दिल्लीवासियों को कितनी परेशानी झेलनी पड़ी।

मीडिया का मुख्य उद्देश्य अब भव्य आयोजनों की दिलचस्प और ब्योरेवार रिपोर्टिंग करके लोगों को रिझाना और अपनी टीआरपी बढ़ाना ही रह गया है। अन्ना आन्दोलन की रिपोर्टिंग के साथ भी ऐसा ही हुआ। मीडिया ने रोचक और चटपटे ब्योरे, उत्सुकता और सनसनी जगाने वाले तथ्यों तथा उत्सव, उमंग और छिछली भावुकता वाले दृश्यों को खूब बढ़-चढ़ कर प्रस्तुत किया। लेकिन भ्रष्टाचार के मुद्दे को गंभीरता से सामने लाने, उसके कारणों का विश्लेषण करने, लोकपाल बिल के अलग-अलग मसौदों की तुलनात्मक रूप से व्याख्या करने, लोकपाल के लाभ-हानि पर विभिन्न पक्षों की राय बताने, कुल मिलाकर दर्शकों-पाठकों को शिक्षित करने की जहमत मोल नहीं ली। इसके बजाय किसने अपने नवजात बच्चे का नाम अन्ना रखा, कौन नंगे पैर चलकर अन्ना के चरण छूने पहुँचा,

किसने कितने आकर्षक गोदने-टैटू रचाए, लोगों में कितना उमंग था, जैसी बातों पर ही ध्यान केंद्रित किया, बीच-बीच में उच्च मध्यवर्गीय वस्तुओं और सेवाओं का विज्ञापन भी चलता रहा।

आन्दोलन को तेज करने और उसका टेम्पो ऊँचा रखने और अन्ना को शोहरत दिलाने में मीडिया की भूमिका असंदिग्ध है। अप्रैल में आन्दोलन की घोषणा करने से पहले अन्ना के नाम के साथ गूगल सर्च में अन्ना कोर्निकोवा का सन्दर्भ आता था और अन्ना हजारे के नाम पर केवल चार या पाँच परिणाम दिखते थे, जबकि प्रधानमंत्री द्वारा ड्राफ्टिंग कमिटी में उन्हें शामिल किये जाने के बाद उनके हजारों संदर्भ आने लगे। 28 अगस्त को एनडीटीवी ने घोषणा की कि यह संख्या 2 करोड़ 90 लाख से भी ज्यादा हो गयी है और भारत के वेब जगत में उनकी लोकप्रियता लेडी गागा से तो कम, लेकिन प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति से अधिक है।

अन्ना हजारे और उनकी लोकपाल मुहिम की छवि बनाने के अलावा मीडिया ने 13 दिनों के इस आन्दोलन के दौरान यह प्रयोग भी सफलतापूर्वक आजमाया कि शासक वर्गों द्वारा किस हद तक मीडिया का इस्तेमाल किया जा सकता है। नॉम चोम्स्की ने तो मीडिया द्वारा सहमति गढ़े जाने का ही विश्लेषण किया था। आज मीडिया उससे आगे बढ़कर 'असहमति गढ़ने' में भी सफल रहा है। यानी वह मन चाहे मुद्दे गढ़ सकता है और उन्हें लोगों के मस्तिष्क में रोप कर उन्हें उद्वेलित कर सकता है तथा उस उद्वेलित समूह को मनचाहे तरीके से नियंत्रित और संचालित कर सकता है। इस घटना चक्र के दौरान इसे आजमाया जा चुका है। निश्चय ही यह अन्य सभी बातों से कहीं अधिक गम्भीर और विचारणीय मामला है।

भद्रलोक समाज और एनजीओ के आर्थिक स्रोत

अन्ना के जन लोकपाल का नेतृत्व करने वाले सिविल सोसायटी के लोग किसी न किसी एनजीओ से जुड़े हुए हैं। आम तौर पर गैर-सरकारी संगठनों का काम गरीबों की सहायता, जिन जिम्मेदारियों से सरकार ने हाथ खींच लिया है उन कल्याणकारी कार्यक्रमों का संचालन और सरकारी योजनाओं को लागू करवाने में मदद करना होता है। लेकिन आज राजनीतिक गतिविधियों में भी वे बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेने लगे हैं। विश्व सामाजिक मंच के माध्यम से वैश्वीकरण और विश्व व्यापार संगठन का विरोध इसका एक प्रमुख उदाहरण है। अन्ना का आंदोलन भी इसी श्रेणी में आता है।

राजनीतिक और आंदोलनात्मक कार्रवाइयों में लगे किसी भी संगठन के लिए आर्थिक स्रोत का सवाल एक नीतिगत सवाल है। हमारे समाज में अलग-अलग वर्गों की पार्टियाँ और संगठन हैं। जो संगठन जिनके लिए काम करते हैं, उनसे आर्थिक सहयोग लेते हैं। किसी संगठन के मददगार उसे आर्थिक सहयोग तभी देते हैं जब उसके उद्देश्य

और कार्यक्रम उसके हित में हों। यदि ऐसा न हो तो वे उल्टे उसका हर तरह से विरोध करेंगे। संगठन भी अपने आर्थिक सहयोगियों के प्रति जवाबदेह होते हैं। कहावत है जिसका खायेंगे, उसका गायेंगे। चुनाव लड़ने वाली पार्टियाँ पूँजीपतियों से चन्दा लेती हैं और उनके लिए काम करती हैं। यह एक खुली सच्चाई है। इसी तरह ट्रेड यूनियन अपने सदस्यों और समर्थकों से चंदा लेते हैं। सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक संगठन भी अपने उद्देश्यों से सहमति रखने वाले समर्थकों के आर्थिक सहयोग से संचालित होते हैं। संगठनों के सहयोगी उसकी गतिविधियों पर नजर रखते हैं और यदि संतुष्ट न हों तो वे संगठन को सहयोग देना बंद कर देते हैं। यही बात एनजीओ पर भी लागू होती है। पैसा देने वाली संस्थाओं के स्वार्थ और गैर-सरकारी संगठनों के उद्देश्य और कार्यक्रम में मेल होना जरूरी है। विश्व बैंक, फोर्ड फाउंडेशन (जिसके अमरीकी गुप्तचर संस्था सीआईए से सम्बन्ध जगजाहिर हैं) या ऑक्सफेम जैसी संस्थाएँ जिन संगठनों को पैसा देती हैं उन्हें अपनी ओर से कार्यक्रम भी देती हैं, जैसे- विश्व बैंक द्वारा दुनिया भर में भ्रष्टाचार विरोधी अभियान की योजना। यही नहीं, वे उन संगठनों की पारदर्शिता और जवाबदेही का भी लेखा-जोखा लेती हैं।

वर्ग विभाजित समाज में वर्गेतर बातें करना, सबके हित की बात करना केवल लोगों को बेवकूफ बनाने का जरिया है। हर वर्ग अपने हितों को सर्वोपरि रखता है। यहाँ तक कि तटस्थता और सर्वजन हिताय की आड़ में राज्य भी कुछ वर्गों की कीमत पर किन्हीं दूसरे वर्गों के स्वार्थों की पूर्ति करता है और इस पर पर्दा डालने के लिए उसके कर्ताधर्ता झूठ का अम्बार खड़ा करते रहते हैं।

अन्ना हजारे, अरविन्द केजरीवाल और अरुणा राय आदि ने सूचना के अधिकार की लड़ाई लड़ी। सिविल सोसायटी के शीर्षस्थ लोगों ने 'अहिंसक' प्रयासों से कानून बनवाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर ली। लेकिन वर्ग समाज में शक्तिशाली, सम्पत्तिवान लोग अपना नुकसान होने पर हिंसा का सहारा लेना बंद नहीं करेंगे। अब तक सूचना अधिकार से जुड़े दो दर्जन एनजीओ कार्यकर्ताओं की हत्या हो चुकी है। 16 अगस्त को अन्ना मुहिम के पहले ही दिन भोपाल में सूचना अधिकार और भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन से जुड़ी एक महिला कार्यकर्ता सेहला मसूद की दिन दहाड़े हत्या हुई। अन्ना टीम के अहिंसक आंदोलन के शोर-सराबे में जघन्य हिंसा की यह घटना गुम हो गयी। सच तो यह है कि इस कानून से सबसे अधिक लाभ देशी-विदेशी पूँजीपतियों को हुआ है जो घर बैठे इन्टरनेट के जरिये सही समय पर वे सभी सरकारी सूचनायें प्राप्त कर लेते हैं, जिनके लिए पहले उन्हें महीनों चक्कर काटना पड़ता था। लेकिन ऐसी धारणा फैलायी जाती है, जैसे कि सूचना अधिकार कानून आम जनता की भलाई के लिए है, ताकि वर्ग-भेद पर पर्दा पड़ा रहे। क्या लोकपाल कानून इस वर्ग-भेद से ऊपर काम कर पायेगा? आर्थिक-सामाजिक विषमता के रहते क्या यह सम्भव है?

एनजीओ परिघटना का उद्भव सहज स्वाभाविक रूप से या खुद ब खुद नहीं हुआ है। इसके तार साम्राज्यवाद से जुड़े हैं। साम्राज्यवादी संस्थाएँ सचेत रूप से इन्हें बढ़ावा दे रही हैं। विश्व बैंक की विकास रिपोर्ट 2000-2001 में बताया गया है कि 1999 में विश्व बैंक द्वारा स्वीकृत योजनाओं में से 70 प्रतिशत एनजीओ और सिविल सोसायटी के प्रतिनिधियों की भागीदारी से पूरी हुई। इनमें से केवल एक प्रोजेक्ट 4500 करोड़ रुपये का था जो नौ देशों में एनजीओ और सिविल सोसायटी के मार्फत लागू करवाया गया। यह कोई खैरात नहीं है, क्योंकि इस नवउदारवादी दौर में साम्राज्यवादी संस्थाएँ और विदेशी फण्डिंग एजेन्सियाँ जितना धन खर्च कर रही हैं, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ उससे कई गुना अधिक लूट रही हैं।

निजीकरण के चलते सरकार ने जिन सामाजिक सेवाओं की जिम्मेदारी त्याग दी, उन्हें पूरा करने के लिए एनजीओ अब निजी ठेकेदारों की भूमिका में उतर आये हैं। इसके चलते सरकार अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाती है और जनता का सारा ध्यान एनजीओ पर टिक जाता है, वह भी अपने अधिकार के रूप में नहीं, बल्कि दानी की कृपा-दृष्टि पाने के लिए। जो जनता का अधिकार है वह उसे दान में आधा-अधूरा दिया जाता है।

एनजीओ के जरिये 2000-2001 में 970 करोड़ रुपये का विदेशी फण्ड सार्वजनिक सेवाओं की मद में खर्च किया गया जो सरकार की जिम्मेदारी है साथ ही निजी पूँजीपति अब इन सेवाओं का व्यापार करके भरपूर मुनाफा कमा रहे हैं। विश्व बैंक और मुद्रा कोष के इशारे पर ही सरकार ने सार्वजनिक सेवाओं की मद में बजट कटौती की थी, जिसके कारण गरीबी, भुखमरी और महामारी तेजी से बढ़ी। 1985-90 में राज्य और केंद्र सरकार द्वारा ग्रामीण विकास पर सकल धरेलू उत्पाद का 14.5 प्रतिशत खर्च किया गया था जो 2000-2001 में घटकर 5.9 प्रतिशत रह गया। यदि सरकार पहले के बराबर खर्च करती तो यह राशि वर्तमान बजट से 2,30,000 करोड़ रुपये अधिक होती, जबकि एनजीओ के मार्फत इसका हजारवाँ हिस्सा खर्च करके सरकार निश्चिन्त है। समझना कठिन नहीं कि एनजीओ वास्तव में किसकी सेवा करते हैं।

एनजीओ का कार्यक्षेत्र अब केवल लोक कल्याण कार्यक्रम तक ही सीमित नहीं है। वे स्थानीय और राष्ट्रीय राजनीति में भी एक खास तरह का हस्तक्षेप करते हैं जिसका मकसद जाहिरा तौर पर अपने दानदाताओं के स्वार्थों की पूर्ति करना होता है। इसके लिए वे स्थानीय लोगों के बीच से अपने कर्मचारियों की भर्ती करते हैं। हालाँकि उन्हें अपेक्षतया बहुत कम वेतन दिया जाता है लेकिन बेरोजगारी की हालत को देखते हुए यह भी उनके लिए बड़ी चीज होती है। उनके एहसान से दबे ऐसे ही लोग स्थानीय स्तर पर उनका राजनीतिक प्रभाव जमाने में मदद करते हैं और जलसे-जुलूसों में भीड़ जुटाते हैं।

जिन मुद्दों पर रेडिकल बदलाव के लिए जुझारू आन्दोलन होने की सम्भावना होती है, व्यवस्थापोषक एनजीओ उन पर सुधारवादी, समझौतावादी और नरमपंथी मुहिम छेड़ देते

हैं। यथास्थितिवादी राजनीतिक पार्टियाँ और मीडिया उनके इस काम में भरपूर मदद करते हैं। विश्व बैंक ने एनजीओ को बढ़ावा देने के पीछे अपना राजनीतिक उद्देश्य स्पष्ट करते हुए विकास रिपोर्ट 2000-2001 में कहा था कि ''औपचारिक या अनौपचारिक तरीकों से सभी राजनीतिक विरोधियों को एक ही मंच पर लाकर तथा उनकी ऊर्जा को राजनीतिक प्रक्रियाओं की ओर मोड़कर सामाजिक तनाव और बटवारों को काफी शान्त किया जा सकता है, बजाय इसके कि उस आक्रोश का शमन करने के लिए टकराव को ही एकमात्र रास्ता मान लिया जाय।'' यही कारण है कि जन आंदोलनों के इलाकों में ही एनजीओ का फैलाव ज्यादा है।

पारम्परिक जनसंगठन और जनआंदोलन अपने खुद के आर्थिक स्रोतों के ऊपर निर्भर होते हैं और उनके नेता और कार्यकर्ता आम जनता के बीच से आने वाले जनसामान्य होते हैं, जो जनता के प्रति सीधे जवाबदेह होते हैं। जनता के साथ उनका सम्बन्ध पानी और मछली की तरह होता है। ऐसे कार्यकर्ताओं की जगह एनजीओ के जिन विशेषज्ञों और प्रशिक्षित (सोशल वर्क और मैनेजमेंट की डिग्री लिए) स्वयंसेवकों को उतारा गया है वे अपने अधिकारियों और दानदाताओं के द्वारा ऊपर से नियंत्रित होते हैं। उनके लिए जनता की सहमति या असहमति कोई मायने नहीं रखती। वे मुलाजिम की तरह काम करते हैं और उनका किसी भी समय तबादला हो सकता है। उनके आर्थिक स्रोत भी जनता से नहीं बल्कि बाहर से आते हैं और वे अपने दान दाताओं के प्रति ही जवाबदेह होते हैं। जनता के साथ उनका सम्बन्ध पानी और मछली की तरह नहीं, बल्कि कल्याण करने के लिए आये हुए महापुरुष जैसा होता है।

उनकी परनिर्भरता का आलम यह है कि जिस दिन सरकारी-गैर-सरकारी, देशी-विदेशी फण्डिंग बंद हो जाए उसी दिन सारे एनजीओ ध्वस्त हो जायेंगे।

मजदूर आंदोलन में ठहराव, बिखराव और भटकावों के कारण जनता के जुझारू जनसंगठनों की परम्परा और निरंतरता बाधित हुई है। इससे एनजीओ के लिए खुला मैदान मिल गया। अब कई एनजीओ आदिवासियों, दलितों, महिलाओं और खेत मजदूरों का संगठन, मानवाधिकार संगठन और सांस्कृतिक संगठन चलाते हैं, सबसे पहले आगे बढ़कर वे ही किसी राजनीतिक सामाजिक मुद्दे को भी उठाते हैं। देश की राजनीतिक पार्टियाँ भी इसी संस्कृति में ढल चुकी है। उनका नेतृत्व जनता से पूरी तरह कटा हुआ है और वे जनता के ऊपर सवारी गाँठने वाले लाटसाहब में बदल गए हैं। पक्ष-विपक्ष की राजनीतिक पार्टियों में जनता का कोई प्रतिनिधित्व या हिस्सेदारी नहीं है। इसीलिए उनके नेतागण एनजीओ के साथ साँठ-गाँठ करते हैं और उन्हें बढ़ावा देते हैं। इस विकट स्थिति से बाहर निकलने का एक ही रास्ता है, मेहनतकश वर्गों और तबकों की चेतना बढ़ाना और सही उसूलों पर आधारित उनके अपने संगठन बनाना, जिनकी गहरी जड़ें अपने लोगों के बीच हों और उन्हीं से वे जीवनी शक्ति ग्रहण करते हों।